अंक-18

ISSN 0975-5217

वर्ष 2021

भैरवी

संगीत शोध पत्रिका

मिथिलांचल संगीत परिषद्

स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग

ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय

कामेश्वरनगर, दरभंगा (बिहार)

Scanned with OKEN Scanner

भैरवी

(संगीत शोध-पत्रिका)

(वर्ष 2020 अंक 18)

मिथिलांचल संगीत परिषद्

स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग
ललित कला संकाय
ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय,
कामेश्वरनगर, दरभंगा 846 004

भैरवी (संगीत शोध-पत्रिका)

ISSN 0975-5217

वर्ष-2020, अंक : 18

प्रधान सम्पादक

प्रो. (डॉ.) पुष्पम नारायण

प्रकाशक : मिथिलांचल संगीत परिषद्

स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग
ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय,
कामेश्वरनगर, दरभंगा 846 004
मो. - 09430063265
ईमेल - npushpamji@gmail.com

मूल्य

इस अंक का मूल्य : 400/- रुपये

व्यक्तियों के लिए :

वार्षिक : 800/- रुपये / त्रैवार्षिक 2400/- रुपये

पंचवार्षिक 4000/- रुपये / आजीवन : 15000/- रुपये

संस्थाओं के लिए :

वार्षिक : 850/- रुपये / त्रैवार्षिक 2500/- रुपये

पंचवार्षिक 4500/- रुपये / आजीवन : 16000/- रुपये

(केवल मनी आर्डर / चेक / बैंक ड्राफ्ट से)
(दरभंगा से बाहर के चेक में 40 रुपये अधिक जोड़ें)

''भैरवी'' विश्वविद्यालय अनुदान आयोग नई दिल्ली द्वारा अनुमोदित है। साथ ही यह Peer Reviewed Refereed Music Research Journal है।

सर्वाधिकार सुरक्षित
प्रकाशित सामग्री के उपयोग हेतु लेखक, प्रकाशक की अनुमति आवश्यक है।
प्रकाशित रचनाओं के विचार से सम्पादक व प्रकाशक का सहमत होना आवश्यक नहीं।
समस्त विवाद दरभंगा न्यायालय के अन्तर्गत विचारणीय।

मुद्रक : छापक : विकास कंप्यूटर एंड प्रिंटर्स, ट्रोनिका सिटी, लोनी, ग़ाज़ियाबाद-201 102

प्रधान सम्पादक

प्रो. (डॉ.) पुष्पम नारायण

प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष, स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग, ल.ना.मि.वि.वि., दरभंगा

सम्पादक मंडल

प्रो. चमनलाल वर्मा

अवकाश प्राप्त विभागाध्यक्ष, संगीत विभाग, हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय, शिमला

प्रो. साहित्य कुमार नाहर

कुलपति, राजामान सिंह तोमर संगीत विश्वविद्यालय, ग्वालियर

डॉ. रामशंकर

प्रवक्ता, संगीत एवं मंचकला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

डॉ. संतोष दत्तात्रयराव परचुरे

प्रवक्ता, संगीत विभाग, एस.पी.एच. महिला महाविद्यालय, मालेगांव कैम्प, महाराष्ट्र

डॉ. अश्विनी कुमार सिंह

प्रवक्ता, संगीत एवं मंचकला विभाग, एम.एस. विश्वविद्यालय, बड़ौदा, गुजरात

जपात्कोटि गुणं ध्यानं ध्यानात् कोटि गुणं लय।
लयात्कोटि गुणं गानं गानात् परतरं नाहि।।

(जप से करोड़ों गुणा प्रभावी ध्यान है, ध्यान से करोड़ गुणा लयात्मकता प्रभावशाली है। लय प्रधान जप से करोड़ गुणा प्रभाव गान का है और साधना के लिए गान अर्थात् संगीत से उत्तम उपाय अन्य कोई नहीं।)

'Music is the bridge of peace and love'

‘संगीत दो देशों के बीच शान्ति और प्रेम का सेतु है।’

ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय, दरभंगा

संपादक की कलम से ...

कला शिक्षा के दो पहलू होते हैं। एक तो वह जो काफी हद तक कलकार की साधना के जैसा स्वरूप रखता है यानि संगीत, मूर्तिकला, चित्रकला, नाट्यकला आदि की शिक्षा और दूसरा वह, जो जीवन के हर चेतन और अचेतन क्षण में अंतर्निहित है। दोनों ही अत्यन्त आवश्यक है। एक को छोड़कर दूसरा सघ नहीं सकता। यदि कोई यह कहे संगीत, चित्रकला आदि सिखाना बेकार है, तो यह निरर्थक है। कला का स्थान जीवन में अलग नहीं है बल्कि वह तो जीवन में घुली मिली होनी चाहिए। समाज में कलाकार अपनी साधना में लगे होंगे, तो समाज के जीवन में कला का समन्वय भी ठीक ढंग से हो सकेगा। अगर यह समन्वय उचित ढंग का होगा तो, समाज में से वे व्यक्ति, जिन्हें कला का बीज जन्मजात ही मिला है, अपना विकास ठीक ढंग से कर पाएँगे। दोनों छंद साथ-साथ चले, यह शिक्षा की योजना में आना चाहिए।

आज जीवन में कला कोई गहरा असर नहीं करती। आम व्यक्ति के जीवन में उसका कोई असर नहीं होता। यहाँ तक कि कला साधना करने वाले के अपने जीवन में भी उसका असर कम दीखता है। इसीलिए सामाजिक उत्थान का काम करने वाले कुछ लोग कला को बेकार चीज मानते हैं। चूँकि उपरी तौर से कला आज विलासी और घनी लोगों की ठेकेदारी-सी बन गई है, वे लोग कला को अवांछनीय वस्तु मानते हैं। वे ये नहीं जानते कि आज मनुष्य के व्यक्तित्व के ऐक्य का और मानव समाज के ऐक्य का संधि-भंग हो गया है, वह केवल इसी कारण से है कि मनुष्य के हृदय की अनेक भावनाओं को तृप्ति का वह बोध नहीं होता, जो कला अनुभवों द्वारा हो सकता है और होता भी रहा है।

शिक्षा में विज्ञान की अधिक आवश्यकता है और कला की कम, यह विचार नासमझी सा लगता है। विज्ञान और कला विपरीत वस्तुएँ नहीं है। वे एक दूसरे के पूरक हैं। दोनों मानव साधना को परिपूर्ण बनाने वाली हैं।

मेरा ऐसा मानना है कला केवल दर्शकों के लिए नहीं होनी चाहिए। वह देखने की वस्तु नहीं है। वह तो अनुभव करने की वस्तु है। व्यक्ति को कला का अनुभव लेना चाहिए उसे बनाने का अनुभव। कलाकार होने के लिए नहीं, बल्कि उसके द्वारा व्यक्ति के व्यक्तित्व में कुछ हो, उसके द्वारा हमारे शरीर में छांदिक स्पन्दन हो, मानस में, हृदय में समवेदना का उदय हो, इसलिए। नृत्य हम केवल देखें नहीं, स्वयं भी करें। गाना हम केवल सुनें नहीं, खुद भी गाएँ। तभी तो कला दिल को तृप्ति देगी और पड़ोसी के साथ संवेदना का निर्माण करेगी।

कला का अनुभव मनुष्य की प्रारंभिक अवस्था से ही शुरू हो जाता है। आज के सामाजिक ढाँचे और शिक्षण पद्धति के कारण सृजनात्मक क्षमता कम होती जाती है। उचित और स्वाभाविक विकास के लिए शिक्षा के ढाँचे को बदलने की आवश्यकता है। गाँधी जी और रविन्द्रनाथ टैगोर ने जिस 'स्वतंत्र मनुष्य' की कल्पना की थी, उसका विकास ऐसी शिक्षा के द्वारा ही हो सकता हैं, जो बुनियादी तौर से सृजनात्मकता पर आधारित हो और जिसमें हर प्रवृति और विषय के पीछे व्यक्तित्व के ऐक्य और समाज के ऐक्य की पुनःस्थापना करनेवाली कला दृष्टि हो।

सम्पादकीय में मैंने अपने मन में उभरते विचारों को आपके समक्ष रखा है। भैरवी संगीत शोध पत्रिका का अठारहवाँ अंक कोविड-19 की त्रासदी के कारण कुछ विलम्ब से प्रकाशित होकर प्रस्तुत हो रहा है। आशा है सुधी पाठकगण इस देरी के लिए क्षमा करेंगे।

—प्रो. (डॉ.) पुष्पम नारायण
संपादक
स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग
ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय,
कामेश्वरनगर, दरभंगा 846004
मो. - 09430063265
ईमेल - npushpamji@gmail.com

अनुक्रम

	संपादक की कलम से ...		7
1.	भारतीय शास्त्रीय संगीत का उच्च रक्तचाप पर प्रभाव	पंडित (डॉ.) निशीन्द्र किंजल्क	11
2.	तुलसीदास की रचनाओं में संगीत	डॉ. रामशंकर	14
3.	तुलसी से पूर्व राम-काव्य	डॉ. माधुरी पोद्दार	17
4.	पर्यावरण और लोकगीत	डॉ. अरविन्द कुमार	21
5.	ध्यान की अन्तः यात्र सांगीतिय अभ्यास की कुंजी है	डॉ. सुरेन्द्र कुमार	25
6.	लोक संस्कृति के उद्‌गायक : पं. रामाश्रय झा 'रामरंग'	डॉ. राजीव कुमार	29
7.	संगीत के क्षेत्र में रोजगार के अवसर	प्रो. पुष्पम नारायण, दिनान्त भूषण	35
8.	मानव मन और संगीत	डॉ. अंजू कुमारी	37
9.	राजधारी गान (लोकनाट्य)	प्रो. पुष्पम नारायण, हरिशंकर गुप्ता	40
10.	नाटकों में सामाजिक सरोकार और भीष्म साहनी	प्रो. पुष्पम नारायण, मो. इरफान अहमद	42
11.	संगीत के क्षेत्र में जीविकोपार्जन की संभावनाएं	डॉ. श्रुति होड़ा	45
12.	+2 तक अध्यापन विद्यालय में संगीत शिक्षा की स्थिति	प्रो. पुष्पम नारायण, निधी कुमारी	49
13.	संगीतः दार्शनिक आयाम	पंकज कुमार शर्मा, डा. अरविन्द कुमार	54
14.	बिहार में ठुमरी गायन का ''अवलोकन''	डॉ. सौरव कुमार नाहर	56
15.	आचार्य रजनीश की 'आनन्ददायी शिक्षा' में संगीत की प्रासंगिकता	राजीव कुमार रंजन	58
16.	बिहार की संगीत परम्परा में प्रयुक्त अवनद्य-वाद्य तथा सौन्दर्य उत्कर्ष में उसकी भूमिका	प्रो. पुष्पम नारायण, संजीत कुमार	63
17.	संगीत चिकित्सा क्षेत्र में व्यवसाय की संभावनाऐं	डॉ. नीतू गुप्ता	69
18.	संगीत में भावाभिव्यक्ति का साधन : काकु	प्रो. संगीता पंडित, अभिनव नारायण आचार्य	71
19.	अवधी पारम्परिक लोक संगीत	डॉ. रामशंकर, अशोक कुमार	76
20.	उत्तर प्रदेश के लोक गीत	डॉ. के.ए. चंचल, अजीत कुमार	80
21.	आनन्द और सौन्दर्य का आत्म निवेदन संगीत	डॉ. रामशंकर, श्रेया पांडेय	88

22.	सितार वाद्य की उत्पत्ति की अवधारणाः एक सैद्धान्तिक विश्लेषण	डा. रितु सिंह	92
23.	संतूर वाद्य का निर्माण एवम् रख-रखाव की तकनीक	प्रियंका शर्मा	95
24.	शास्त्रीय संगीत की अनुपम शैली : तराना	डॉ. मधुमिता भट्टाचार्य	96
25.	ज्योतिरिन्द्रनाथ के संगीत श्रृष्टि में त्रिवेणीसंगम	डॉ. नीरा चौधरी, संजय भट्टाचार्या	100
26.	भारतीय लोक संगीत की यात्रा	मेघना कुमार	104
27.	संगीत का धार्मिक वैज्ञानिक और प्राकृतिक पक्ष	डॉ. रामशंकर, जितेन्द्र सिंह	107
28.	मिथिला की लोक संस्कृति	प्रियंका कुमारी	111
29.	शिक्षा के संवर्धन में संगीत की भूमिका	चन्द्रिका कुमारी	116
30.	मिथिला के संस्कार गीत	डॉ. लालति कुमारी	120
31.	संगीत का वतर्मान संदर्भ और बाँसुरी	रोहन तारा	123
32.	“Desi Dhol” of lower Assam and Northern West Bengal	Dr. Santosh Kumar, Mr. Dhananjay Ray	126
33.	The Unique Style of Kirana Gharana Singing	Manish Kumar	130
34.	Padmabhushan Pt. Rajan Mishra his bond with Kashi (1951-2021)	Dr. Archna Adityo Mhaskar	135

भारतीय शास्त्रीय संगीत का उच्च रक्तचाप पर प्रभाव

पंडित (डॉ.) निशीन्द्र किंजल्क

संगीत की विलक्षण विशेषताओं से समान्य जन संगीतकार व संगीत प्रेमी सदा से अभिभूत रहे हैं। विज्ञान व चिकित्सा के क्षेत्र ने विगत तीन दशकों में इसके औषधीय गुणों पर विशेष खोज बीन की है। और कई सकारात्मक निष्कर्ष निकाले हैं इनमें से एक है उच्च रक्तचाप के नियंत्रण के लिए संगीत चिकित्सा का उपयोग।

वैज्ञानिक आधार :

मानव मस्तिष्क में लिंबिक सिस्टम (Lambic System) के अन्तर्गत अमाइगडला (Amygdala) व हिप्पोकैम्पस (Hppocampus) दो मुख्य केन्द्र हैं जहाँ संगीत का अधिक प्रभाव पड़ता है।

शरीर में मस्तिष्क के अन्तर्गत व कई प्रकार के अन्य स्नायु तंत्र में भी कई प्रकार के न्यूरोकेमिकल्स (Neurochemicals) का स्त्राव भी होता रहता है। इनकी मात्र घटने या बढ़ने से व्यवहार व क्रिया में अन्तर आता है। ये रसायन हैं- डोपामिन (Dopamine), कौर्टिसोल (Cortisol), एन्डौर्फिन (Endorphins), औक्सीटोसिन (Oxytocin), सेरोटोनिन (Serotonin) व इनके विभिन्न प्रकार।

संगीत का प्रभाव इन न्यूरोकेमिकल्स पर पाया गया है।

मस्तिष्क के अन्दर इलेक्ट्रोइनकेफैलोग्राम (Electroencephalogram) एवं फंक्शनल एम आर आई (Functional Magnetic Resource Imaging or MRI) करने पर भी संगीत के प्रभाव का विस्तृत विवरण प्राप्त हुआ है।

संगीत चिकित्सा की अवधारणा के मूल में कुछ विशिष्ट बिन्दु हैं, जिनमें से एक है संगीत के द्वारा नकारात्मक व हानिकारक तनाव का नियंत्रण।

तनाव को कई रोग के कारणों में गिना गया है। उच्च रक्तचाप (Hypertention) के व दिल का दौरा (HeartAttack) जैसी घातक बीमारियों को बढ़ाने में इसका बड़ा योगदान है। अतः इस वर्ग के रोगियों की पहचान कर उनके तनाव को नियंत्रण करना अत्यंत आवश्यक होता है। संगीत चिकित्सा की यहाँ पर निश्चित भूमिका है।

यहाँ ध्यान देने योग्य बात है कि हर प्रकार का संगीत हर परिस्थिति में हर व्यक्ति के लिए लाभदायक ही हो कोई जरूरी नहीं। अतः, उपयुक्त संगीत के चयन की चुनौती संगीत चिकित्सा के क्षेत्र में सदा से बनी रही है। इस जटिलता को हल करने हेतु किंजल्क संगीत चिकित्सा व शोध केन्द्र, मुजफ्फरपुर ने 1996 में एक विशेष विधि, किंजल्क मोड और म्यूजिक एप्लिकेशन (Kinjalk Mode of Music Application, KIMMA) को विकसित किया। किम्मा (KIMMA) की इस विधि में तीन स्तर पर रोगी का परीक्षण कर उसके लिए 'Rule of 4 M' के आधार पर संगीत की रचनाओं का चयन किया जाता है। प्रस्तुत शोध में भी संगीत रचनाओं का चयन इसी आधार पर किया गया।

भारतीय संगीत में एक धारणा यह भी रही है कि अमुक राग व अमुक ताल का एक ही खास प्रभाव है। परन्तु इस शोध कार्य में यह भी सामने आया है कि एक ही राग के अलग-अलग रचनाओं

* सितार व सुरबहार आकाशवाणी दिल्ली, वरिष्ठ चिकित्सक व हृदय रोग विशेषज्ञ

के प्रभाव अलग-अलग हैं। इसी प्रकार साज, व बंदिशें के बदलने से भी राग व ताल के प्रभाव बदल जाते हैं।

उदाहरण के लिए प्रचलित राग यमन कल्याण को लें। इस राग में विचित्र वीणा पर ध्रुपद अंग के जोड़-आलाप, सरोद पर पूर्वांग की झपताल की विलम्बित बंदिश व संतूर पर द्रुत तीनताल की उत्तरांग प्रधान बंदिश- इन तीनों का प्रभाव एक दूसरे से भिन्न होता है। वैसे ही, मध्यम व पंचम की प्रधानता से क्रमशः राग हेमन्त व राग हेम बिहाग की रचनाओं के प्रभाव भी भिन्न होते हैं।

परीक्षण :

ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय के संगीत विभाग के अन्तर्गत डॉ पुष्पम नारायण के निदेशन में 87 रोगियों पर एक शोध हुआ। इसमें उच्च रक्तचाप के रोगियों को गांधार व पंचम नाम के खंडों में विभाजित किया गया। गांधार वर्ग के रोगियों को संगीत चिकित्सा दी गई। पंचम वर्ग के रोगियों को संगीत चिकित्सा नहीं दी गई। प्रत्येक व्यक्ति को संगीत के सत्र आठ हफ्तों तक दिए गए। यह पूरा सिलसिला मार्च 2012 से अक्टूबर 2015 तक चला। हर सत्र 20 मिनट का था। हर हफ्ते कम से कम पाँच सत्र की संगीत चिकित्सा दी गई।

संगीत के लिए हिन्दुस्तानी तंत्र वाद्ययंत्र सितार, संतूर, मुरली, सरोद, विचित्र वीणा, रूद्र वीणा व सारंगी पर बंदिशें व आलाप जोड़ का चयन किया गया। संगीत के छः मोड्यूल तैयार किए गए थे।

परिणामः

शोध के परिणामस्वरूप प्राप्त हुआ कि जिन मरीजों को संगीत चिकित्सा मिली थी उनके तनाव नियंत्रण में मदद मिली और कुछ में उच्च रक्तचाप की दवा की मात्र भी घट गई। कुछ मरीज जिन्हें उच्च रक्तचाप के शुरूआती लक्षण थे, उनकी दवा तीन महीने बाद बन्द भी हो गयी।

निष्कर्षः

निष्कर्ष यह निकाला गया कि भारतीय संगीत के सावधानी पूर्वक चयन करने से तनाव नियंत्रण व उच्च रक्तचाप नियंत्रण में सहायता मिलती है।

सीमाएं व जटिलताएँ :

संगीत के मात्र (क्वान्टम) व प्रकार (वेरायटी) को एक स्वरूप में ढालना अभी भी एक चुनौती है। भारतीय संगीत के साथ कई केन्द्रों पर बिना पूर्वाग्रह के मल्टी सेन्ट्रिक रैन्डमाइज कन्ट्रोल ट्रायल (Multicentric randomized trails) की जरूरत हैं।

संदर्भ ग्रन्थ सूचीः

1. भरत और उनका नाट्शास्त्र, संगीत नाटक अकादमी 2012।
2. देवांगन तुलसीदास, संगीत का रस सिद्धांत से संबंध, भारतीय संगीत शास्त्र 1997, 378-413।
3. जोशी हेमंत कुमार, संगीत का मानव जीवन पर प्रभाव, संगीत निबंध संग्रह 2003, 94-97।
4. चक्रवर्ती, डॉ. कविता, संगीत के मनोवैज्ञानिक प्रभाव, संगीत की मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि 1994, 20-24।
5. श्रीवास्तव, डॉ. संगीता, संगीत चिकित्सा विधि का जीवन में महत्व, भैरवी 2009, 1:130-134।
6. नारायण, डॉ. पुष्पम, चिकित्सा में संगीत की भूमिका, संगीत और जीवन, विजया बुक्स, नई दिल्ली, 2011, 113-130।
7. शुक्ला, डॉ. मधु, राग-रागिनी के पद्धति में ध्यान परंपरा का विश्लेषण, भैरवी 2009, सं. प्रो. पुष्पम नारायण, 1:42-45।

Bibliography

8. Mutatkar S.A*spects of Indian Music*. Sangeet Natak Akadami 2006. Hippocrates. *On the Sacred Disease.* 400 BC; 100.
9. WickensA. *Foundation of Biopsycholigy.* Harlow, UK; Prentice Hall; 2000.
10. Singh, (Dr) Lawanya Kirti 'Kabya'.*Intervention of Music Therapy aspart of Psychotherapy.* Current Trends in Music Therapy Practices, BHU Varanasi 2012; 198-200.
11. Kinjalk Nishindra. *Music Therapy in Treatment of Diseases.* Medicine Update, Volume 13, 2003; 1002-7
12. Toker E, Komurcu N. *Effect of Turkish Classical Music on Prenatal Ansiety and Satisfaction : A Randomized Controlled Trail*

in Pregnant Women with Pre-Eclampsia. Complement Ther Med. 2017;30:1-9

13. Kinjalk Nishindra, Kinjalk Meghna. *Music Therapy: Emerging Catalyst in the West, Are We Ready to Prescribe.* Int J of Sci Res. 2019, Vol 8; 30.
14. Teng XF, Wong MYM, Zhang YT. *The effect of music onhyprtensive patients.* Annu Int Conf IEEE Eng Med Biol Soc. 2007; 4649-51.
15. Amaral MA, Neto MG, de Queiroz JG, Martins-Filho PR, Saquetto MB, Oliveira Carvalho V. *Effect of Music therapy on blood pressure of individuals with hypertension:A* systematic review and Meta-analysis. Int J. Cardiol. 2016 Jul 1;214: 461-4.
16. Trappe HJ. *The effect of music on the cardiovascular system and cardiovascular health.* Heart. 2010;96:1868-71
17. Mir IA, Chowdhury M, Islam RM, Ling GY, ChowdhuryAABM, Hasan ZM, Higashi Y. *Relaxing music reduces boold pressure and heartrate amongpre-hypertensive young adult:* A *randomized control trial.* I Clin Hypertens (Greenwich). 2021 Feb; 23 9(2):317-322.
18. Aghaie B, Rejeh N, Heravi-Karimooi M, EbadiA, Moradian ST, Vaismoradi M, et al. *Efffect of nature-based sound therapy on agitation and anxiety I coronary artery bypass graft patients during the weaning of mechanical ventilation; a randomized clinical trial.* Int J Nurs Stud. 2014;51:526-38.
19. Bekiroglu T, Ovayolu N, Ergun Y, Ekerbicer HC. *Effect of Turkish classical music on blood pressure: a randomized controlled trial in hypertensive elderly patient.* Complement Ther Med. 2013 Jun;21 (3):147-54.

तुलसीदास की रचनाओं में संगीत

डॉ. रामशंकर

संगीत हमारे जीवन का एक स्वाभाविक परमानंद संदेश है। प्रत्येक प्राणी जब आनंद में निमग्न होता है तो कुछ ना कुछ गाता है हम उसे समझे या न समझे। यहां तक कि पुष्पों का मकरंद पान कर के भ्रमर भी गीत गाता है और कोकिला का तो पंचम स्वर स्वाभाविक ही सिद्ध है, भारत के राष्ट्रीय पक्षी मयूर का षडज सिद्ध है। महाकवि कालिदास कहते हैं कि षड़ज संवादिनी केकाह। तात्पर्य यह है की। संगीत जीवात्मा और परमात्मा दोनों के ही स्वाभाविक परमानंदानुभूति का परिणाम है। यहां तो केवल संगीत का अनुशासन प्रस्तुत करने के लिए आचार्यों ने भिन्न-भिन्न रागों की रचना की संगीत पहले भी था संगीत आज भी है और भविष्य में भी रहेगा परंतु यह कहा जाए कि पहले राग था पहले संगीत था तो पहले संगीत था बाद में राग बना। संगीत साम वेद का उपवेद है इसे हम गंधर्व वेद कहते हैं। भगवान कहते हैं 'सामवेदानां साम्वेदोस्मि' अर्थात् वेदों में साम वेद स्वयं मैं ही हूँ।

प्रारंभ होता है इन रागों का, बाल्मीकि रामायण में महर्षि वाल्मीकि ने 24000 श्लोक को भिन्न-भिन्न रागों में गाया है। करुण प्रसंगों का प्रस्तुतीकरण कोमल स्वरों से करते हैं।

हमारे सौभाग्य और संयोग से वही महर्षि वाल्मीकि इस कराल कलिकाल में विक्रमी संवत् 1554 सप्तमी को बुंदेलखंड के चित्रकूट के राजापुर ग्राम में तुलसीदासजी के रूप में प्रकट हुए।

''कलिकुटिल जीव निस्तारहित बाल्मीक तुलसी भयो''

संगीत को कितना योगदान दिया गोस्वामी जी ने जहां विधर्मी जन संगीत में अश्लील गीतों की परंपरा चला रहे थे वे संगीत के माध्यम से भारतीय संस्कृति को नष्ट करने के लिए कटिबद्ध हो चुके थे, वही संगीत मधुमय श्री राम भक्ति सुधा का संयोग करके गोस्वामी तुलसीदास जी ने स्वर्ण सौरभ संयोग प्रस्तुत किया। 12 ग्रंथों में संगीत का जितना सुंदर समावेश हुआ है ऐसा कहीं देखा नहीं गया। उनकी प्रथम रचना श्रीरामचरितमानस है इसमें चौपाई छंद की प्रथम पंक्ति ही अगर देखेंगे तो समझ में आ जाएगा कि गोस्वामी जी में कितना अद्भुत संगीत रहा होगा उदाहरण के लिए पहली पंक्ति देखिए -

बंदउँ गुरु पद पदुम परागा।
सुरुचि सुबास सरस अनुरागा।।1

अतः गोस्वामी जी के संगीत प्रधान 4 ग्रन्थ कहे जा सकते हैं पार्वती मंगल, जानकी मंगल, विनय पत्रिका और श्रीराम गीतावली।

तुलसीदास जी के ग्रंथों में संगीत और पद को देह और आत्मा माना जाता है। संगीत के बिना गीतकार अपनी भावनाओं को आकार नहीं दे सकता। अतः काव्य और संगीत के संबंध को नकारा नहीं जा सकता। गोस्वामी तुलसीदासजी वाग्गेयकार की श्रेणी में आते हैं जो कि संगीत और साहित्य दोनों के कवि हैं। उन्हें संगीत का पूर्ण ज्ञान था। उन्होंने काव्य की रचना राग एवं ताल में की। गोस्वामी जी ने अनेक ग्रंथ लिखे जिसमें रामचरितमानस, गीतावली, कवितावली, विनय-पत्रिका इत्यादि हैं। तुलसीदास जी की अद्भुत काव्य रचना एवं संगीत के विषय में जो भी प्रशंसा की जाए वह कम होगी क्योंकि तुलसीदास जी ने अपना अस्तित्व हरि गुणगान में लीन कर दिया तथा उन्होंने अपने पदों के द्वारा

सहायक प्राध्यापक, गायन विभाग, संगीत एवं मंचकला संकाय, काशी हिन्दू वि. वि., वाराणसी

सगुण लीला एवं विनय के भक्ति में पदों का तथा प्रभु राम की बाल लीलाओं से लेकर संपूर्ण राम चरित्र का वर्णन किया। गीतावली के पदों में संगीत की परिभाषिक शब्दावली का भी उल्लेख मिलता है।

उदाहरण-

सूत मगध प्रवीण, वेनु वीना धुनि द्वारे, गायक सरस राग रागे।।2

तुलसीदास जी की अनुपम कृति विनय पत्रिका है जिसमें 279 पदों का संग्रह है। प्रस्तुत ग्रंथ में भगवान श्री राम जी की स्तुति नाम जप वंदना महिमा आदि से संबंधित पद हैं जो कि विभिन्न सांगीतिक रागों एवं तालों में निबद्ध है।

उदाहरण -

गाइए गणपति जगबंदन। (राग बिलावल) 3
दानी कहुं संकर सम नाहीं। (राग धनाश्री) 4
सेइअ सहित सनेह देह भरि, कामधेनु कलि कासी। (राग भैरव) 5

लगभग 23 रागों में विनय पत्रिका के संपूर्ण पद रचित हैं। महाकवि तुलसीदास के समय में ध्रुवपद एवं ख्याल दोनों का ही प्रचार था और तुलसीदास इन शैलियों से परिचित भी थे, जिनका उपयोग उन्होंने गीत काव्य में किया है ध्रुवपद एवं ख्याल की दृष्टि से इन के पद अच्छे रचित हैं जिसे आज के समय में महान कलाकार स्वरलिपिबद्ध कर मंच पर प्रस्तुति देते हैं। अतः तुलसीदास का युग संगीत का स्वर्ण काल कहा जा सकता है। उन्हीं के समय में उत्तर भारतीय शास्त्रीय संगीत पद्धति का उन्मेष हुआ था तथा उनके ही समय में प्रसिद्ध शास्त्रीय संगीतज्ञ तानसेन, बैजू-बावरा, हरिदास, मानसिंह तोमर आदि का यश फैल चुका था। गोस्वामी जी पर साहित्यिक प्रभाव के अतिरिक्त शास्त्रीय संगीत का प्रभाव भी पड़ा हो तो यह सर्वथा स्वाभाविक ही है।

गोस्वामी जी ने बालकांड से लेकर सुंदरकांड, लंकाकांड, उत्तरकांड तक ताल वाद्यों का उल्लेख किया जैसे -

अवनद्य वाद्यों में मृदंग, ढोल, दुंदुभी, डिम-डिम, पणव आदि घन वाद्यों में घंटा, घंटी, झांझ इत्यादि सुषिर वाद्यों में शहनाई, शंख, भेरी आदि तत वाद्यों में वीणा इत्यादि।

अतः हम यह कह सकते हैं कि तुलसीदास जी की रचनाओं में संगीत के तत्व विद्यमान हैं जो आज वर्तमान समय में सभी विधाओं में उपयोगी हैं।

उस समय तानसेन और बैजू बावरा में क्या अंतर रहा होगा, मीरा और आज के नृत्यांगनाओं में क्या अंतर रहा होगा। अंतर यह है तानसेन संगीत से अकबर को रिझा रहा था और बैजू बावरा संगीत से यदुवर को रिझा रहे थे। बैजू बावरा का संगीत भगवान से जुड़ा हुआ था और तानसेन का संगीत इंसान से जुड़ा हुआ था। आज की नृत्यांगनाएं अपने नृत्य से संसार को रिझा रही है और मीरा अपने नृत्य से श्याम सुंदर को रिझाती थीं। गोस्वामी तुलसीदासजी मानते हैं, कितना भी सुंदर संगीत हो कितनी भी सुंदर राग की प्रस्तुति हो पर उसमें भगवान के राग का अनुराग नहीं है तो उसका कोई महत्व नहीं है, फिर तो फिल्मी गाने और उसमें कोई अंतर नहीं रहेगा जहां विधर्मियों ने बंदिश की परंपरा प्रस्तुत की वही गोस्वामी जी ने बंदना की परंपरा प्रस्तुत की।

उदाहरण- बंदिश की परंपरा में जहाँ विधर्मियों ने कहा -

हमरी अटरिया में आजा सांवरिया,
देखा देखी तनिक होइ जाए।

इसी प्रकार गोस्वामी जी ने कहा -

मंगल भवन अमंगल हारी।
द्रवहु सो दसरथ अजर बिहारी।। 6

गोस्वामी जी ने विनय पत्रिका, श्रीराम गीतावली को विविध रागों के अनुसार निबद्ध किया है उन रागों को भगवान से जोड़कर सौभाग्यशाली बनाया है जैसे विनय पत्रिका का प्रारंभ राग बिलावल से होता है इसी प्रकार श्रीराम गीतावली का प्रारंभ राग आसावरी से किया। गोस्वामी जी ने कहा संगीत के रागों का समूह एक व्यंजन है। अनेक प्रकार के व्यंजनों का समूह हो और जब तक उसमें तुलसीदल नहीं डाला जाता तब तक भगवान स्वीकार नहीं करते उसी प्रकार कोई भी राग भगवान को तब तक नहीं भाता जब तक राग में भगवान का अनुराग नहीं होता गोस्वामी जी ने यही किया।

गोस्वामी जी के भिन्न-भिन्न पदों को आधार बनाकर हम बंदिश की परंपरा को छोड़कर वंदना की परंपरा को आत्मसात करें भारत को आत्मनिर्भर बनाने की परिकल्पना संगीत में भी नई परिकल्पना होनी चाहिए। संगीत में भी क्रांति होनी चाहिए संगीत को अश्लीलता से दूर करके भगवती ईश्वर से जोड़ा जाए।

कौन सा पद किस राग में गाया जाता है। तुलसी दास जी इसका पूर्ण विचार किये, जिस राग के उपयुक्त जो पद वो रखते थे उसका भाव भी उसी के अनुरूप होता था। तुलसीदास जी अपने को अपने आराध्य के प्रति समर्पित कर देना चाहते थे इसीलिए दिवस के प्रथम वेला के रागों जैसे बिलावल, विभाष, भैरव आदि से लेकर रात्रि के अंतिम प्रहर वाले रागों जैसे राग मालकोश और बागेश्री आदि में गीतों और पदों को बांधा।

तुलसीदास जी के भावानुकूल राग योजना ताल युक्त शब्द योजना से सिद्ध होता है कि वह संगीतज्ञ थे यही कारण है कि संगीत शास्त्र में वे पूर्णतया खरे उतरते हैं और शायद यही कारण है कि हमारे पूजनीय पंडित रामाश्रय झा 'रामरंग' जी ने गोस्वामी तुलसीदास जी के श्री राम की छवि को देव रूप में प्रतिष्ठित किया है तथा शास्त्रीय संगीत में तुलसीदास कृत श्रीरामचरित मानस को आधार बना के 'रामरंग' संगीत रामायण की रचना की।

सन्दर्भ सूची-

स्वामी रामभद्राचार्य जी महाराज के उद्बोधन से (विषय - संत कवि तुलसीदास की रचनाओं में संगीत पर आयोजित वेबिनार से दिनांक-01 एवं 02 जुलाइ 2020)

1. श्री रामचरित मानस बालकाण्ड प्रथम चौपाई छंद
2. कवितावली
3. विनय पत्रिका (पद सं -1)
4. विनय पत्रिका (पद सं -4)
5. विनय पत्रिका (पद सं -22)
6. श्री रामचरित मानस बालकाण्ड दोहा संख्या 111/4

तुलसी से पूर्व राम-काव्य

डॉ. माधुरी पोद्दार

तुलसी- पूर्व का राम- काव्य बहुत विस्तृत नहीं है। ऐतिहासिक दृष्टि से सबसे पहले रचनाकार चंदबरदाई हैं। पृथ्वीराज रासो के अयदशम् में दशावतार वर्णन है, जिसमें 56 छंदों में रामचरित का विवरण है।

चन्द के उपरांत स्वामी रामानंद के साहित्य में राम का विवरण सुलभ है। रामानंद के पूर्व त्रिलोचन एवं नामदेव हो चुके थे, जिनके पदों में राम के ब्रह्मत्व का निरूपण है। रामानंद यद्यपि सगुणोपासक थे किंतु, इनके बारह शिष्यों में कबीर, धन्ना, पीपा, सेन एवं रैदास निर्गुण रामोपासक थे। तुलसीदास के पूर्व 15वीं शताब्दी में स्वामी विष्णुदास ने वाल्मीकिय रामायण का हिन्दी रूपांतर प्रस्तुत किया था। यह भाषा वाल्मीकीय रामायण दोहा-चौपाई छंदों में है। सिंकदरशाह के समकालीन ईश्वर कवि ने अंगदपैज, रामजन्म एवं भरत मिलाप में रामचरित का वर्णन किया था।

तुलसी- पूर्व राम-काव्य के श्रेष्ठ रचनाकार महात्मा सूरदास थे। इन्होंने 'भागवतभावित रामचरित का गुणगान किया था-'सुक जैसे नृप को समुझायो, सूरदास त्यों ही कहि गायो।

रामजन्म से लेकर राज्याभिषेक तक की कथा सूर ने भागवत के अनुसार रची है। भागवत की कथा इतिवृत्तात्मक है परंतु सूर की रचना गेय पदों में मार्मिक स्थलों से संबंधित है। सूरसागर के अतिरिक्त सूरसारावली में भी रामचरित का वर्णन है। सूर तुलसी से बड़े थे, समकालीन भी थे अतः उन्होंने एक-दूसरे को प्रभावित किया होगा। तुलसी के रामकाव्य एवं कृष्णकाव्य में जो अनुपात है और राम एवं कृष्ण को जिस क्रम में उसमें महत्व दिया गया है, सूर के कृष्ण और रामकाव्य में भी आकार का वही अनुपात और महत्व का वही क्रम है।

तुलसी के पूर्व से ही रामकाव्य की एक अन्य परंपरा चली आ रही थी,जिसे रसिक परंपरा कहा जाता था। राम की मधुर लीलाओं का ध्यान इन कवियों का साध्य था। इन रसिक साधकों के अनुसार यह परंपरा इन कवियों का साध्य था। हिन्दी में सर्वप्रथम अग्रदास ने रसिक शैली में रामकाव्य लिखा है। इन्होंने 'महारासोल्लासी विलासी सर्व देहिनाम्' राम का चरित अपने ग्रंथों- रामध्यान मंजरी, कुंडलिया, रामज्योनार एवं पदावली में प्रस्तुत किया है।

(1) ''रामकाव्य - परम्परा में तुलसी का स्थान अत्यंत महत्वपूर्ण है। उनके पूर्व विशाल रामकाव्य की रचना हो चुकी थी। रामकाव्य की तुलसी- पूर्व तीन परंपराएं थीं- ब्राह्मण रामकाव्य परम्परा, बौद्ध रामकव्य परंपरा एवं जैन रामकाव्य परम्परा।

बौद्ध त्रिपिटक, महाभारत तथा रामायण के अध्ययन से यह पता चलता है कि वैदिक काल के बाद चौथी शताब्दियों के पहले से रामकथा- विषयक आख्यान-काव्य की उत्पत्ति हुई थी।''

(2) ''वाल्मीकि रामायण में इस बात की ओर निर्देश किया गया है-

इक्ष्वाकूणामिदं तेषां राज्ञां वंशे महात्मनाम्।
महदुत्पन्नमाख्यानं रामायणमिति श्रुतम्।।3।।''
(बालकाण्ड, सर्ग 3)

आदि कवि वाल्मीकि के पूर्व जो रामविषयक आख्यान-काव्य की रचना हो चुकी थी, उसकी लोकप्रियता तथा क्षेत्र विस्तार निर्धारित करना असंभव है किन्तु अवशिष्ट सामग्री की कल्पना ध्यान में रखकर यह अनुमान दृढ़ हो जाता है कि वाल्मीकि ने जिस समय उस प्राचीन गाथा- साहित्य को एक ही कथा- सूत्र में ग्रथित कर आदि रामायण की रचना

की थी,उसी समय से रामकथा की दिग्विजय यात्र प्रारंभ हुई थी। 'वाल्मीकि कृत रामायण में अयोध्या काण्ड से लेकर युद्ध काण्ड की कथावस्तु का वर्णन था, इसलिए उन्होंने अपने काव्य का नाम रामायण अर्थात् राम का अयन (पर्यटन) रखा।'

पिछली शताब्दी में रामायण पहले पहल पश्चिम में विख्यात होने लगा, उस समय अनेक विद्वानों का मत था कि रामायण ईस्वी सन् के एक हजार वर्ष से अधिक पुराना है। आज कल अधिकांश यूरोपीय और भारतीय विद्वान् आदि रामायण की रचना 300 ई. पू. के आस-पास मानते हैं। यह मत भारतीय साहित्य की अन्य रचनाओं के तुलनात्मक अध्ययन पर आधारित है। प्राचीन बौद्ध साहित्य, विशेषकर जातकों की भाषाओं की सामग्री के विश्लेषण से स्पष्ट है कि त्रिपिटक के रचनाकाल में रामकथा संबंधी आख्यान- काव्य प्रचलित हो चुका था, लेकिन रामायण की रचना नहीं हो पायी थी।

वाल्मीकि रामायण रामकाव्य की आदि रचना है। कुछ लोग बौद्ध जातक कथाओं को रामायण की मूल कथा मानते हैं। 'बौद्ध जातक कथाओं में दशरथ जातक, अनामकं जातकम् तथा चीनी त्रिपिटक के अंतर्गत दशरथ कथानम् है। इनमें राम के चरित्र को एक प्राचीन चरित्र के रूप में प्रकट किया गया है जिसमें राम का उससे बहुत पूर्व होना और उनके कथानक का अति प्रख्यात होना स्पष्ट होता है यह प्रख्याति वाल्मीकि रामायण के द्वारा ही संभव जान पड़ता है।

'दशरथ जातक' 'जातक कट्ठवण्णना' - नामक पुस्तक में ही मिलती है जो पांचवी शताव्दी ईस्वी की एक सिंहली पुस्तक का पाली अनुवाद है।' सिंहली होने के कारण इसमें मुख्य राम-रावण युद्ध का अभाव है और इसका कारण अहिंसापरक बौद्ध दृष्टिकोण है। वाल्मीकी रामायण के मुख्य प्रभाव क्षेत्र से अलग कथा होने के कारण इसमें विकृति है। साथ-ही-साथ इसमें लोक-कथा के समान मुख्य कथा की अनभिज्ञता का भी स्वरूप स्पष्ट होता दिखता है।

(3) ''जैन रामकाव्य- रामकाव्य संबंधी अनेक कृतियां जैन- काव्य-परंपरा में प्राप्त होती हैं। इनमें राम कथा का काफी विस्तार है, परंतु इनमें राम का स्वरूप जैन दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया गया है। 'जैन राम कथाओं में सबसे अलग 'विमलसूरि' द्वारा रचित 'पउम्' चरियम्' है। विमल सूरि नागिल वंशीय स्थविर आचार्य वीर संवत् 530 या विक्रम संवत् 60 में हुई थी।'' श्रीराम को जैनाचार्य गघ में नाम से पुकारते हैं। इसलिए 'पउम् चरियम' संस्कृत के पद्य चरितम् का रूप है। विमलसूरि का यह ग्रंथ बड़ी सुंदर विशद् शैली में लिखा गया है। इस ग्रंथ का रामकथा के अतिरिक्त साहित्यिक, सामाजिक, ऐतिहासिक एवं भाषाशास्त्रीय महत्व भी है। आगे चलकर दिगम्बर आचार्य जिनसेन ने इस ग्रंथ का 'पद्य पुराण' नाम से संस्कृत में अनुवाद प्रस्तुत किया। मूल रूप में यह ग्रंथ प्राकृत में है।'

'प्राकृत में रामकथा को प्रस्तुत करने वाला दूसरा ग्रंथ 'वासुदेव हिण्डी' गुणदय की वृहत् कथा के अनुकरण पर लिखा गया ग्रंथ है। यह दो खण्डों में विभक्त है। पहले खण्ड के प्रणेता संघदास गणि वाचक हैं और दूसरे खण्ड के रचयिता धर्मसेन गणी महतार हैं। पहले खण्ड की भाषा जैन प्राकृत है, और दूसरे की भाषा मागधी शौरसेनी है। प्रथम खण्ड छठी शताब्दी और दूसरा खण्ड अनुमानतः सातवीं शताब्दी में लिखा गया।' इसके बाद प्राकृत में दसवीं शताब्दी विक्रमी के लगभग आचार्य भद्रेंश्वर सूरि ने कहावली नामक ग्रंथ की रचना की। इस ग्रंथ के अंतर्गत लगभग 23 हजार छंदों में रामायण की कथा का विस्तृत वर्णन किया गया है। इसके बाद प्राकृत में लिखे ग्रंथों के भुवनुंग सूरि कृत सिया चरियम् तथा राम-लखन चरियम् जैसे ग्रंथ हैं।

प्राकृत के अतिरिक्त जैन राम-काव्य संस्कृत भाषा में भी प्राप्त होता है, जिसमें रामकथा का खण्डशः एवं विस्तार से वर्णन मिलता है। इस ग्रंथों में सबसे 'पहला ग्रंथ रविषेणकृत पद्य चरित' आठवीं शताब्दी विक्रमी में लिखा गया। नवीं शताब्दी में गुणभद्र कृत 'उत्तर पुराण' लिखा गया। इसके अतिरिक्त कालक्रमानुसार संस्कृत में जैन राम-काव्य की निम्नलिखित रचनाएं देखी जा सकती हैं।

'दसवीं शताब्दी में हरिषेण के कथाकोष में 'रामायण कथानकम्' तथा 'सीता-कथानक' प्राप्त होता है। इस पर वाल्मीकि रामायण का प्रभाव है, यद्यपि ये विमलसूरि की परंपरा में है। बारहवीं शताब्दी

में जैनाचार्य हेमचन्द्र कृत 'त्रिशष्टि शलाका पुरूष चरितम् के अंतर्गत रामायण की कथा प्राप्त होती है। इसी प्रकार इनकी योगशास्त्र की टीका में रावण उपाख्यान मिलता हैं सोलहवीं शताब्दी में पद्मदेव विजयगण कृत राम-चरित लिखा गया और लगभग इसी समय सोमसेन कृत रामचरित की भी रचना हुई।'

जैन रामकथाओं की दो परम्परायें मिलती हैं। एक परंपरा विमलसूरि की है, और दूसरी परंपरा गुणभद्र कृत उत्तरपुराण की है। गुणभद्र कर्नाटक के निवासी थे और जिनसेन के शिष्य थे। इनका उत्तरपुराण नवीं शताब्दी के अंत में लिखा गया है। उत्तरपुराण में रामकथा विमलसूरि और वाल्मीकि के कथानक से बहुत भिन्न हैं। इस कथा-परंपरा की मुख्य विशेषता यह है कि इसमें सीता, रावण और मन्दोदरी की पुत्री के रूप में है।

'अपभ्रंश' के जैन राम साहित्य के अंतर्गत दो काव्य ग्रंथ विशेष रूप में महत्व के हैं–

(1) स्वयंशु कृत पउम चरिउ और (2) पुष्पदंत कृत महापुराण। 'पउम चरिउ' आठवीं और नवीं शताब्दी के बीच की रचना है और महापुराण दसवीं शताब्दी की।'

संस्कृत में रामकाव्य

(4) ''संस्कृत साहित्य में रामकाव्य की बहुत लंबी और सुदीर्घ परंपरा है। 'यह परंपरा तीन रूपों में विभक्त हैं। (1) पुराण साहित्य में रामकाव्य (2) प्रबन्ध काव्यों में रामकाव्य और (3) नाट्य साहित्य में रामकाव्य।' इन सभी प्रकारों से राम साहित्य का मूल स्त्रोत आदि कवि वाल्मीकि कृत रामायण है। यद्यपि वाल्मीकि रामायण की कथा का पूर्ण स्वरूप इन सभी ग्रंथों में नहीं मिलता और अपने-अपने ढंग से विभिन्न ग्रंथों में घटनाओं और प्रसंगों का समावेश हुआ है, फिर भी मूल प्रेरणा वाल्मीकि कृत रामायण से ही प्राप्त हुई है। वाल्मीकि रामायण, आदि काव्य और रामकथा का मूल स्रोत मानी जाती है। इस ग्रंथ के रचनाकाल के संबंध में विद्वानों में काफी मतभेद हैं। डॉ. कीथ इसे चौथी शताब्दी ई.पू. की रचना मानते हैं तथा डॉ. विन्टर निट्स तीसरी शताब्दी ई. पू. इसकी रचना मानते हैं। कुछ विद्वान् इसे बुद्ध के बाद रची हुई मानते हैं। इसलिए इसकी रचना तीसरी शताब्दी ई.पू. से पहले स्वीकार नहीं करते, परंतु वाल्मीकि रामायण के कहीं भी बुद्ध जैसे महापुरूष का उल्लेख नहीं है। अतः वाल्मीकि रामायण आदि काव्य माना जाता है और इसकी रचना काल प्राचीन समय में होनी चाहिए। अतः वाल्मीकि रामायण ई. पू. ग्यारहवीं, बारहवीं शताब्दी के आस-पास लिखी गई, यही मानना चाहिए।

संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य में उक्त रचनाएं प्रमाणिक हैं और ललित साहित्य की सीमा में है। इसके अतिरिक्त पुराण शैली कथा शैली, धार्मिक-विधा, संधिता-शैली में अनेक रामकथा संबंधी रचनाएँ तुलसीदास के पूर्व हुई थी, जिनमें महाभारत, स्कंद-पुराण के अतिरिक्त अध्यात्म रामायण, योगवशिष्ट, आनंद रामायण अद्‌भुत रामायण आदि अनेक विस्तृत रचनाएँ हैं। तुलसीदास ने 'नाना पुराण निगमागम' कह कर इस ओर संकेत किया है।' लेकिन वे काव्य की सीमा में नहीं हैं, न इनके समय और रचयिता का कोई समय है। तुलसीदास ने राम की भक्ति का जो निरूपण अपने काव्य में किया है, उनकी चर्चा संस्कृत के इन ललित-साहित्य की रचनाओं में नहीं है। उसका बीज पौराणिक एवं इतर रामायणों से उन्होंने लिया है और अवतारवाद की प्रतिष्ठा की है। रामचरितमानस की कथावस्तु में अनेक प्रसंगों के लिए तुलसीदास संस्कृत की उक्त रचनाओं के आभारी हैं।

तुलसीदास के पहले हिन्दी साहित्य में राम की कथा मौलिक और आंशिक रूप में कुछ कवियों ने लिखी है '16वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में ईश्वरदास ने अयोध्याकाण्ड की कथावस्तु का भरत-मिलाप नाम से दोहा-चौपाइयों में वर्णन किया है। इसमें भरत को दास्य भक्ति का आदर्श चित्रित किया गया हैं, रामजन्म तथा अंगद-पेंज भी उनकी रचनाएँ हैं। सूरसागर में भी रामकथा पर पदों की रचना सूरदास ने की है। काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित और श्री नन्ददुलारे वाजपेयी द्वारा संपादित सूरसागर के प्रथम खण्ड के नवम- स्कन्ध में रामकथा पर 167 पदों का संग्रह है।'

भारतीय संस्कृति के प्रचार-प्रसार में रामकथा का शीर्ष स्थान रहा है। साइबेरिया से लेकर

इण्डोनेशिया तक प्रचलित रामकथा के विविध रूप भारतीय संस्कृति की अमर पताकाएं हैं। वाल्मीकि इन पताकाओं के दण्ड हैं। वस्तुतः वाल्मीकि और तुलसी भारतीय संस्कृति और आध्यात्मिक गगन के सूर्य और चन्द्र हैं।

वाल्मीकि के बाद रामकथा के प्रचार में तुलसी के मानस का सर्वाधिक योग रहा है। मानस की रचना के समय से ही तुलसीदास देश-विदेश में लोकप्रिय होने लगे थे और मानस का अनुवाद न केवल भारत की प्रमुख भाषाओं संस्कृत,उर्दू,बंगला, मराठी, पंजाबी, उड़िया, तेलगु, तमिल आदि में हुआ, अपितु विश्व की प्रमुख भाषाओं- अंग्रेजी, फ्रेंच आदि में भी उसके अनूदित संस्करण समय-समय पर निकलते रहे।

संदर्भः-

(1) राम कथा - उत्पत्ति और विकास, फादर कामिल कुल्के - 77
(2) वाल्मीकि रामायण, बालकाण्ड, सर्ग 3
(3) महाकवि तुलसीदास और युग संदर्भ, डॉ. भगीरथ मिश्र पृ. - 61
(4) महाकवि तुलसीदास और युग संदर्भ, डॉ. भगीरथ मिश्र, पृष्ठ 66

पर्यावरण और लोकगीत

डॉ. अरविन्द कुमार

पर्यावरण शब्द 'परि' और 'आवरण' से मिलकर बना है। 'परि' का अर्थ है चारों ओर और 'आवरण' का अर्थ है ढके हुए। अतः पर्यावरण शब्द से तात्पर्य हमारे चारों ओर पाए जाने वाले सामाजिक, सांस्कृतिक एवं प्राकृतिक वातावरण से है। सामाजिक वातावरण से तात्पर्य मानवों के बीच परस्पर सम्बन्धों से है। सांस्कृतिक वातावरण में नैतिकता, प्रथाएँ, भाषा, धर्म, परम्पराएँ इत्यादि आते हैं। प्राकृतिक वातावरण में जल, पृथ्वी, वृक्ष, वनस्पति आदि आते हैं। प्रकृति सुरक्षा प्रदान करती है। पर्यावरण के विभिन्न तत्वों के मध्म संतुलन का होना आवश्यक है।1

चिन्तन, मनन और अन्वेषण के क्षेत्र में भारतीय संस्कृति की विचारधारा सतत् संलग्न रही है। इस संस्कृति में मानव मूल्यों की स्थापना के लिए विचार किया गया है। इसके सूत्रधार, कर्णधार और पथप्रदर्शक जो पुरुष थे वे सामान्य नहीं थे अपितु ऋषि-महर्षि थे, योगी थे, विचारक थे। यहाँ प्रकृति को समझने और उसके साथ सामंजस्य स्थापित करने में ही सभ्यता का उत्कर्ष देखने का प्रयत्न किया गया है। 'माता भूमिः पुत्रे अहमं पृथिव्याः'।[2] अर्थात् धरती हमारी माँ है और हम धरती के पुत्र हैं।

भारतीय जनमानस की भावना प्राकृतिक संसाधनों को श्रद्धेय एवं सम्मानीय मानने की है, उसको अपवित्र करने की नहीं, उनके पोषण की है विकृति की नहीं, उनको सम्हाल कर रखने की है, प्रदूषित करने की नहीं और उसके संरक्षण की है अपव्यय की नहीं। हमारे ऋषियों, मुनियों, ज्ञानियों एवं संतों ने प्राकृतिक संसाधनों के संभावित अधिकाधिक दोहन एवं अनावश्यक उपभोग की समस्या पर चिंतन-मनन के उपरान्त ही हमारे दैनिक जीवन में पर्यावरण निर्देशों को स्थापित करने का प्रयास किया है। इसलिए वैदिक ऋषियों ने 'धौः शांतिः अंतरिक्ष शांतिः पृथिव शांतिः'[3] कहकर तीनों लोकों के पर्यावरण की यथास्थिति बनाए रखने की कामना की है। उनके विचार से जब सृष्टि अपने स्वरूप में अधिष्ठित हो, इसका अंधाधुंध दोहन न किया जाए तो महाभूतों में विकार कल्पांत प्रलय में आते हैं। परन्तु मनुष्यों के क्रियाकलाप और अतिशय भोगवादिता के कारण प्रकृति में समयपूर्व दोष उत्पन्न हो जाते हैं।

भारतीयता को आकार देने में लोक-संस्कृति की भूमिका केन्द्रीय कारक की तरह रही है। भारतीयता के जो समन्वयमूलक शाश्वत जीवन-मूल्य हैं, वे लोक- संस्कृति की ही उपज है। प्रकृति और मनुष्य के आन्तरिक रिश्तों पर आधारित लोक-संस्कृति पर्यावरण के प्रति अधिक सक्रिय और अधिक सचेष्ट विधायिनी संरचना को संभव करती है। वह अपने वैविध में पर्यावरण की सुरक्षा और उनकी गतिशीलता की भी प्रेरक है। हमारे गीतों, नृत्यों, धार्मिक आयोजनों और संस्कार-समारोहों में प्रकृति सदैव उपस्थित रहती है। हमारी जातीय चेतना की अभिव्यक्ति में पर्यावरण प्रासंगिक है।

लोकगीत अधिकतर सांस्कारोत्सव, पर्वों, त्यौहारों, ऋतुओं एवं श्रमसृजन से सम्बन्धित हैं। इसमें व्यक्तिगत भावों के अतिरिक्त मानव के समष्टिगत भावों का भी निरूपण होता है। लोकमानस के स्वाभाविक उल्लास, उमंगें, व्यथा-पीड़ा, परम्परागत रीति-रिवाज तथा आत्मिक रसानुभूतियाँ इसमें हैं।

संगीत विभाग, मगध महिला महाविद्यालय, पटना विश्वविद्यालय, पटना

इन गीतों का चित्रफलक इन्द्रधनुषी है, जो क्षितिज के एक छोर से उठकर दूसरे छोर पर समाप्त होता है। इसके वितान में रंगारंग चित्र है। शिशु के प्रथम क्रन्दन से लेकर जीवन की अन्तिम कड़ी तक के भावचित्र इसमें मिलते हैं। वस्तुतः लोक-जीवन के सच्चे हृदय की झलक इसमें है। इस गीत में स्वाभाविक उद्‌गार है, जिसमें रस है, लय है और मधुरता है। साथ ही साथ अनुभवों का निचोड़ भी। इसकी सहज स्वाभाविकता, स्वच्छन्दता एवं सरलता सबसे बड़ा गुण है।4 इन गीतों में लोक की प्रसरणशीलता और लोक की भूभौतिक व्यापकता में अंतर्निहित सामाजिक, सांस्कृतिक एवं प्राकृतिक वातावरण पर गहराई से विचार किया गया है।

लोकगीतों का भाव और शिल्प जीवन के सभी पक्षों से सम्बन्धित है। इन गीतों का मुख्य आधार प्रकृति की हलचल-हरकत रही है। पानी का बरसना, झरने का बहना, बादल का गरजना, कोयल का कुहूकना, ऋतुओं में परिवर्तन होना इत्यादि क्रियाओं को देखकर मानव अपने मनोगत भावों को स्वाभाविक रूप से व्यक्त करता रहा है। आदिम समय से ही भय मुक्ति की कामना हेतु मानव अपने भीतर झाँकता रहा है। प्रकृति उसके लिए सदा से ही रहस्य स्वरूपा रही है। प्रकृति के विभिन्न उपादानों जैसे-सूर्य, चाँद, नदी, समुन्द्र, पवन, वृक्ष इत्यादि को अपने से अधिक शक्तिशाली मानकर प्रार्थना-अर्चना की है।

आई बरगदाही बरगद पुजवै
काचे ही सूत का हरदी रंगावौ, बट बाबा फेरे लगावउ
एक फेरा मांगौ लाली चुनरिया, दुजै मां चुरिया भरबांह
तीजै मां मांगौ मांग के सेनुरा, चौथे मां बिछिया जड़ाव
पंचमें मां मांगौ बाबा गोदी बलकवा, दूध-पूत कोखि जुड़ाव
छठै मां बाढ़ै बाबा नैहर ससुरा, सत में बाढ़ै सुहाग।5

उपर्युक्त गीत वट-सावित्री व्रत के अवसर पर गाई जाती है। इस व्रत में स्त्रियाँ वटवृक्ष को जल से सीचतीं हैं। उस पर फल, फूल, अक्षत चढ़ाती हैं तथा सूत लपेटती हुई सात प्रदक्षिणा करती है।

निमिया के डार भइया झूले ली झूलनवा से झूली-झूली ना मइया गावेली गीतिया से झूली झूली ना।[6]

भारतीय संस्कृति में जल को देवता माना गया है। सरिताओं को जीवनदायिनी कहा गया है, कदाचित इसी वजह से आदि संस्कृतियाँ सरिताओं के किनारे उपजीं, बसी और वहीं से विस्तार पाती गयीं। हमारे पुरातन ग्रन्थों में सरिताओं, तलाबों, पोखरों में मलमूत्र का विर्सजन वर्जित किया गया है। लोक परम्पराओं में भी पर्यावरण पक्षों को उपयुक्त स्थान प्राप्त है। हमारे मांगलिक कार्यक्रमों में कूप एवं तालाब का पूजन, प्रतीकात्मक तालाबों का निर्माण, मांगलिक गीतों में वृक्षों का महत्व इस बात का प्रमाण है।

गंगा को भारतीय संस्कृति में माता मानी गई है। इसकी स्तुति से हमारा लोक साहित्य समृद्ध है।

हो गंगा मैया अगम लहराय
सिव की जटा जूट से निकरी
पाप और ताप न साय।
एक लहर हमें देहु वरदानी
जुग-जुग जीवन के रि कलयाणी
जो पावैं तरि जाप।7

xxx

गंगा द्वारे बधइया बाजे,
जहुँ रे गंगा मइया मनसा पुरबै,
घुघरी बताशा चढ़इबै।
जहुँ हे गंगा मइया मनसा पुरबै,
नरियर पिपरी चढ़इबै।
जहुँ रे गंगा मइया मनसा पुरबै,
गंगा द्वारे नौबत बजइबै।8

xxx

गंगा जी हई मोरऽ मइया
सुरूज हमरो बापऽ हउए रे जी
चनरमा हउए हमरे भइया
तऽ हमऽ नइहरवा जइवो ए जी।।9

यहाँ नारी प्राकृतिक उपादान (देवता) गंगा, सूर्य, चन्द्रमा से रिश्ता जोड़ती है। यह आत्मिक

रिश्ता भावनात्मक होते हुए रहस्यवादी और आध्यात्मिक है, जो सीधे-सीधे मानव को प्रकृति से जोड़ता है।

सूर्य प्रकृति के देवता हैं। छठव्रत में सूर्य की उपासना प्रकृतिप्रद वस्तुएँ यथा-नारियल, केला, नींबू, ईख, हरदी, मूली, नारंगी इत्यादि को बाँस की नई टोकरी में रखकर नदी या तालाब के किनारे ले जाकर पूजा की जाती है। सूर्य प्राकृत उर्जा के स्रोत के साथ-साथ आरोग्यता के देवता भी हैं।

उगहो सुरज देव उगहो सुरज देव
आहा बिन जग अंधियार।
सुरज देव लेहु न अरघ हमार
हाथ जोरि करूं बिनती
देहु न अपन उजियार।
हे दीनानाथ, लेहू न अरघ हमार।।10

कृषि कार्य हेतु वर्षा का स्वाभाविक महत्व है। वर्षा न होने पर अन्न पैदा नहीं होगा। प्राणिमात्र का भरण-पोषण कैसे होगा? इसी चिन्ता में इन्द्रराज को गीत के माध्यम से आवाहन किया जाता है-

हाली हुलि बरसू इन्नर देवता
पानी बिनु पड़इछइ अकाले हो राम।।11

xxx

मेघवो न बरसे काली बिजुरिया
पानी बिना सगरो अकाल हो राम।।12

कृषि संस्कृति को प्रकृति प्रदत्त मानवीय गुणों को पाला-पोसा। ऐसा इसलिए सम्भव हुआ क्योंकि कृषि संस्कृति का भी मूलाधार प्रकृति ही है। धरती, जंगल, जल, आकाश, ऋतुएँ, फसल, श्रम और सहयोग से यह सब मानव और प्रकृति के एक साथ चलने वाले अनिवार्य जीवन तत्त्व एवं जीवन प्रणाली के अनिवार्य क्रिया-कलाप हैं। कृषि संस्कृति का सम्पूर्ण जीवन चक्र प्रकृति के महाचक्र से निष्पन्न एक विशिष्ट जीवन बनकर उपस्थित हुआ है।13

मानव का पर्यावरण के साथ आंतरिक साझेदारी का सम्बन्ध रहा है। प्रकृति के साथ सहजीवन की यह परम्परा सदियों से लोग बखूबी निभाते भी रहे हैं। यह परम्परा हमारी संस्कृति में कितनी गहरी बसी है, इसे पेड़, जल और धरती को पूजने के तौर पर भी देखा जा सकता है। सिंधु घाटी सभ्यता से लेकर आजतक वृक्ष पूजे जाते हैं, इसके पीछे वृक्षों की रक्षा और जल संरक्षण के संदेश के साथ धरती पर जीवन को बनाये रखने में इसकी महती भूमिका भी निहित है। आज वेशक यह पूजा महज रस्म अदायगी तक सीमित दिखे, पर यह आज प्रकृति के साथ हमारे सम्बन्ध को परिभाषित करती है।

लोकगीतों में मानवीय सम्बन्धों की गरिमा और पर्यावरण की सुरक्षा का प्रश्न दोनों एकसाथ उपस्थित होते हैं। आज पर्यावरण की सुरक्षा हमारे मानवीय मूल्यों की सुरक्षा से अलग नहीं है।

बाबा निमिया के पेड़ जिनि काटेउ
निमिया चिरैया बखेर, बलैया लेउ बीरन
बाबा बिटिया जिनि केउ दुःख देइ
बिटिया चिरैया की नाइँ, बलैया...।
सब रे चिरैयाँ उड़ि जइहे
रहि जइहें निबिया अकेली, बलैया...।
सब रे बिटिया जइहैं सासुर
रहि जइहें माइ अकेलि, बलैया....।।14

बिटिया का नीम के प्रति यह लगाव सम्बन्धों की गहनता के साथ-साथ नीम एवं चिड़ियाँ से तादात्म भाव को भी दर्शाने वाला है। नीम काटने की पीड़ा का अनुभव बिटिया जितनी शिद्दत से कर सकती हैं, शायद घर का कोई और सदस्य न कर पाए। ऐसा इसलिए कि वह भी एक चिड़िया की तरह मायके से ससुराल जाएगीं। उसका मायका न उजड़े, उसकी नीम न कट जाय यह कितनी सार्थक मानवीय एवं पर्यावरण के प्रति चिन्तन है।

ऐसा प्रतीत होता है कि भारतीय लोकसंस्कृति के चिन्तकों को पर्यावरण का पारदर्शी सम्पूर्ण एवं समग्र ज्ञान था। यहीं ज्ञान स्वःस्फूर्त रूप से लोकगीतों के माध्यम से व्यक्त हुआ। उन्हें प्रकृति जीव के अन्तर्सम्बन्धों और इन सम्बन्धों से उपजे परिणामों और प्रभावों का पूर्ण अनुभव था। इसी कारण यहाँ प्रकृति को माता के महनीय पद से अलंकृत किया गया है और इसके घटक पंचतत्वों तथा वृक्षों, वनस्पतियों को देवतुल्य मानकर उनकी अभ्यर्थना की गई है। इन्हीं विशेषताओं के कारण जहाँ पर्यावरण संरक्षण और इसके विकास के सतत् जागरूकता

बनी रही है। आवश्यकता इस बात की है कि इस भावना को वास्तविक रूप से क्रियान्वित किया जाये ताकि पर्यावरण संतुलन बना रहे। अतः स्पष्ट है कि लोकगीतों में भावना अकेली नहीं आती बल्कि प्राकृति के उपकरणों के बीच हृदय की अनुभूतियाँ तरंगित होकर बहती है।

संदर्भ :

1. पाण्डेय अजय कुमार (सं.), बौद्ध साहित्य में पर्यावरण, पृ. 63.
2. अथर्व संहिता, 12-1-12.
3. यजुर्वेद, 36/17.
4. जैन, डॉ. शान्ति, ऋतुगीत : स्वर और स्वरूप, पृ. 17.
5. वही, पृ. 290.
6. परम्परागत लोकगीत।
7. जैन डॉ. शान्ति, ऋतुगीत : स्वर और स्वरूप, पृ. 290.
8. सिंह डॉ. संजय कुमार, लोकसंस्कृति एवं हिन्दुस्तानी संगीत, पृ. 251.
9. तिवारी, रामनारायण, भोजपुरी श्रम लोकगीतों में जंतसार, पृ. 65.
10. परम्परागत गीत।
11. जैन डॉ. शांति, ऋतुगीत : स्वर और स्वरूप, पृ. 58.
12. लोकगायक प्रेमरंजन सिंह से प्राप्त।
13. दुबे श्यामसुन्दर, लोक : परम्परा, पहचान एवं प्रवाह, पृ. 68.
14. जैन, डॉ. शान्ति, ऋतुगीत : स्वर और स्वरूप, पृ. 315.

ध्यान की अन्तः यात्रा सांगीतीय अभ्यास की कुंजी है

डॉ. सुरेन्द्र कुमार

मनुष्य जब पृथ्वी पर अवतरित हुआ तो उसे सबसे पहले प्रकृति की सहचरी मिली। नदी का कल-कल करता जल, सुबह-शाम चिड़ियों की चहचहाहट और केलि करते उनके झुण्ड, झरने की झर-झर, हवा की सायं-सायं, रात के सन्नाटे में झींगुरों की झिनझिन और आंधी में हवा की हरर-हरर की आवाजें यह मनुष्य अनादिकाल से ही सुनता आया है। यह हरी-हरी दूब, उस पर उछलते मृग सावक, चांदी का गहना पहने दूब का पोर-पोर, संपूर्ण शरीर सघःस्नायता नायिका की भांति, ये शैबाल, सुन्दर-सुन्दर पुष्प, गुच्छ, लाल, पीला, हरा, बैंगनी कई रंगों से प्रकृति का कोना-कोना जैसे सजा संवरा हुआ। इठलाते फूलों का करतल-नाद, लहराती-घास एवं लिपटती लता-कुंजों का प्रणय राग, पक्षियों का किलोल भरा कलरव, हिमजल प्रवाहों का उतुंग हिमशृंगों से झर-झर झरना, तिमिर का लजीला घूंघट ओढ़े रजनी का भुवन-भास्कर की प्रतीक्षा में निछावर हो जगराता करना, रेत के धोरों पर शीतल पवन का छमाछम चलना, श्यामल मेघ गर्जना के डमरू नाद पर दामिनियों का नर्तन, शशि की उज्ज्वल चांदनी में लहरों का कीर्तन, सरिताओं का कल-कल निनाद, संकल्प विकल्प रहित हो बादलों की कुक्षि से रसीली बूंदों का झमाझम धरा पर समूह गायन, मन्द-मन्द प्रवाहित गुनगुनाती पवन के झकोरों के संग खड़खड़ाती पत्तियों का खड़ताल-वादन, सभी में हमेशा ही मृदुल संगीत भरा पड़ा है। किसी वृक्ष की सूखी टहनी से जब उसने पत्थरों पर वार किया होगा तब उसने एक अलग ही ध्वनि सुनी होगी।[1] सूखी फलियों को हिलाया होगा तो उसके अंदर से बीज बज उठे होंगे। पत्ती को मोड़कर उसमें फूंक मारी होगी तो उसे सीटी जैसी ध्वनि सुनाई दी होगी। मनुष्य के मन में यह बात तो जरूर आई होगी कि इन सब को बजाया जा सकता है। यहीं से ध्यान का एक रूप उसके मन में बैठ गया होगा। प्रकृति में चहुं ओर व्याप्त यह अनन्त संगीत व निर्मल सौन्दर्य अपार आनन्द का अक्षय स्रोत है। मनुष्य उसकी गोद में बैठकर आनंद के सुख सागर में, और तब उसके हृदय प्रदेश में एक रस का बहाव हुआ और तब संगीत का प्रणयन हुआ। धीरे-धीरे चेतना का स्वर फूटा। सामाजिकता आगे आई फिर गायन, वादन, नृत्य, कहानियां और अभिनय सभी मुखर होने लगे।[2] इन्हीं ध्वनियों में उसने अंतर करना भी सीखा।

संगीत में आध्यात्मिक भजन-कीर्तन, वाद्यवादन, शास्त्रीय गायन तथा कतिपय रागों का श्रवण करने से ध्यान की प्रक्रिया गहन व तीव्र होती है। साथ ही यह भी सत्य है कि संगीत द्वारा हीं ध्यान का अभ्यास सुगमतापूर्वक किया जा सकता है। संगीत मन की बिखरी शक्तियों को एकाग्र करने की विशेष सामर्थ्य रखता है। इसलिए संगीत को भी ध्यान,योग और साधना कहा गया है। संगीत-रत्नाकर ग्रंथ में शारंगदेव ने भी इसकी पुष्टि की है। चैतन्य महाप्रभु इसका साक्षात उदाहरण हैं। आज भी ध्यान के अभ्यासी साधक संकीर्तन व संगीत का सहारा लेते देखे जा सकते हैं। कई ऋषि मुनियों ने इसे ध्यान कर साधना से देखा, सुना तब गाया और कइयों ने गा-गा कर बहुत कुछ पाया है, क्योंकि संगीत की सुर-साधना भी अपने आप में एक ध्यान ही है। इसीलिए प्रख्यात संगीतकार पंडित रविशंकर ने कहा

सहायक आचार्य (गायन) संगीत विभाग, सिक्किम केंद्रीय विश्वविद्यालय, गंगटोक

है- 'संगीत के सोपान से ही ईश्वर तक पहुंचा जा सकता है। संगीत एक अलौकिक ईश्वरीय अनुदान है, जो ब्रह्माण्ड के कण-कण में व्याप्त है समाया हुआ है। आनंद का यह उत्स अंतस में भी व्याप्त है तथा ध्यान की प्रक्रिया से इसका सशक्त व गहन नाता है। ध्यान और संगीत अन्योन्याश्रित व पूरक भी कहे जा सकते हैं क्योंकि संगीत में स्वर साधना की दूसरी सीढ़ी एकाग्रता हीं है।[3] वस्तुतः भारतीय स्वरसाधना और ध्यान की मूल बुनावट आत्मनिवेदन, समर्पण और परमशक्ति की कृपा प्राप्त करने और अंततः उसी में विलय हो जाने की है। संगीतकारों ने रागों की जो कल्पनाएँ कीं उनमें विभिन्न देवी-देवताओं के "ध्यान"गाए जाने की परम्परा चली जिनमें सूक्ष्म साधना प्रक्रिया में राग और स्वरों के रूपों का भी 'ध्यान'गाया जाने लगा। एक मत से 'ध्यान'के चलन को ही मुस्लिम प्रभाव से तत्कालीन संगीत संसार में 'ख्याल'कहा गया। किंतु यह विवादास्पद ही है। उत्तर भारतीय संगीत पद्धति में "ध्रुपद" (ध्रुपदः अचल पद) की बंदिशों में एक सुनिश्चित रागविस्तार के प्रबन्ध की रचना हुई।[4]

भारत रत्न पं. रविशंकर जी ने अपनी आत्मकथा 'my music my life' में लिखा है कि संगीत के सोपान से ईश्वर तक पहुँचा जा सकता है।[5] निःसदेह हमारे संगीत में चंचल वृत्तियों का शमन कर इष्ट के साथ एकीकरण कर आत्मा से परमात्मा को मिलन कराने में, आनन्द में तन्मयता लाने और अपूर्व शान्ति प्रदान करने की अद्‌भुत क्षमता है, इन्हीं अलौकिक गुणों के कारण भारतीय संगीत विश्व संगीत पर अपने अमिट छाप के साथ प्रतिष्ठित है। 'अरस्तु' ने संगीत पर अपने विचार व्यक्त करते हुए लिखा है कि संगीत की मधुर ध्वनियों के आरोह-अवरोह किसी प्रकार की प्रतिमाएँ मस्तिष्क में नहीं खींचते। बल्कि विशुद्ध रूप से अध्यात्मिक अनुभूति कराते है।[6] संगीत मनुष्य की चिन्ताओं, रोगों, परेशानियों एवं दुर्बलताओं का निराकरण करने का एक मनोवैज्ञानिक एवं परा वैज्ञानिक साधन है जो न केवल व्याकुलताओं को दूर करता है वरन् हमें अनुशासित भी करता है। हमारे भारत के प्रथम राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्र प्रसाद जी भी संगीत के इस महानतम शक्ति का गुणगान करते हुए लिखते है- यदि मानव जीवन में कोई ऐसी वस्तु है जो मानव को एक क्षण के लिए विनाशकारी चंगुल से छुड़ाकर अमरता प्रदान करती है जो उसे इस चिन्ताकुल जगत के झगड़ों से उपर उठाकर ऐसे लोक में पहुँचा देती है जहाँ न कोई मलिनता है, न कोई द्वेष न कोई स्पर्धा है और न कोई संघर्ष तो वह केवल और केवल मात्र संगीत ही है।[7]

यानि हमारे जीवन की प्रत्येक अवस्था में किसी न किसी रूप में संगीत अवश्य रूप से जुड़ी हुई है। दैनिक चर्या में गाये जाने वाले गीत, किसी विशेष अवसर पर अथवा किसी धार्मिक या सार्वजनिक समारोहों के अवसरों पर होने वाले कार्यक्रम तो संगीत से परिपूर्ण होते है। आजकल के परीक्षणों में अनेक ऐसी चमत्कार पूर्ण बातें मिली है। जिनके द्वारा अनुसंधानकर्ताओं को अच्छी खासी सफलता प्राप्त हुई है। दैनिक दिनचर्या में भारतीय शास्त्रीय संगीत को सुना जाए तो अनिद्रा तथा अनेक मानसिक तनाव जन्य रोगों से भी छुटकारा पाया जा सकता है, शास्त्रीय संगीत में प्रयोग की जाने वाली मीड़युक्त कम्पोंजीशन माइग्रेन जैसे रोग को भी कम करने में सहायक होते है। संगीत का प्रभाव मस्तिष्क तंत्र की उन मांसपेसियां पर बहुत अनुकूल पड़ता है, जिनमें भावनाएँ भरी रहती है, ये मांसपेशियों संगीत लहरियो के स्पंदन द्वारा निष्क्रियता की अवस्था से निकलकर सक्रिय हो जाती है, फलतः तनाव कम हो जाता है। संगीत तरंगों का प्रभाव जड़, चेतन पर समान रूप से पड़ता है।[8] स्वरों में वह अदभुत शक्ति निहित होती है, जो उनके शुद्ध रूप में मुखरित होने पर प्रकृति को प्रभावित करके आश्चर्य जनक परिस्थिति उत्पन्न कर देती है। संगीत आत्मा पर सीधा प्रभाव डालता है। आत्म सन्तुष्टि से जीवनशक्ति उत्पन्न होती है, तथा मन शान्त हो जाता है। मानव जाति ने अपने अन्तर्मन के भावों एवं अभिव्यक्तियों को स्वर के माध्यम से व्यक्त करके संगीत को परमोत्कर्ष पर पहुंचाया है, जिसके फलस्वरूप संगीत में एक प्रभावपूर्ण शक्ति संचालित होती रहती है, इससे पीड़ित हृदय को शान्ति और संन्तोष मिलता है। पूजा हवन आदि से दूषित तत्वों का संहार होता था जिससे बीमारियाँ आदि कम फैलती थी। इससे मनुष्य में सृजन शक्ति का विकास होता है, एवं आत्मिक प्रफुल्लता मिलती है। संगीत में शरीर, मन और आत्मा तीनों को बलवान करने वाले तत्व परिपूर्ण मात्र में विद्यमान है,

निश्चित रूप से यह आत्मा की उन्नति का सबसे अच्छा उपाय है।

सहस्त्रों वर्षों से शास्त्रीय संगीत की प्रमुख धुरी "रियाज़" को माना गया है यानि "अभ्यास"। आत्मीय समझ, अच्छी कल्पना, प्रतिभा और सुरीला कंठ या हाथ सब कुछ होने पर भी अच्छा संगीतज्ञ अभ्यास के अभाव में कहीं भी टिक नहीं पाताहै। उसकी प्रतिभा का संपूर्ण विकास भी रियाज़ न होने के कारण हो ही नहीं पाता है। बहुत ऐसे संगीत की विधाएँ हैं जो कोई अपनाने को तैयार नहीं है जिसका उदाहरण है सारंगी जिसे बजाने की यह कला लुप्तप्राय होती जा रही है क्योंकि आज के नये वादक अभ्यास नहीं करना चाहते। उस्ताद बिस्मिल्लाह खाँ भी अपने अंतिम समय में इस बात से खिन्न थे कि अभ्यास के अभाव में शहनाई अब वैसी स्थिति में नहीं रहेगी। अनेकों भारत के विद्वान हुये जो अभ्यास के माध्यम से इस विश्व पटल पर अपनी छाप छोड़ी है इसलिए वो इस विषय को लेकर चिंतित हैं जो लाज़मी है। संगीत की यह साधना जिसे अभ्यास या रियाज़ के नाम से संबोधित किया गया है, वह सुर की सही पकड़ का एहसास कराती है। राग के रूप को समझने में मदद करती है, कल्पना के अनेक रास्ते रियाज़ करते समय संगीत के साधक के सामने खुलते जाते हैं और वह अपनी प्रतिभा को बनाने के लिए समर्थ होता जाता है। अभ्यास के बीच ही वह ताल और लय के अलग-अलग मिजाज़ से भेंट करता है और उनसे अपनी पहचान को गहरा करता है। पुरानी चीजों की पुनरावृत्ति से जहाँ नयी-नयी साधना में पकड़ आती है वहीं नयी चीज़ों के बारे में सोचने-समझने और उसके प्रभाव का आकलन करने की सुविधा मिलती है। यह गायक-वादक का नितांत एकांत रचना संसार है। इसमें श्रोता की उपस्थिति बाधक होती है। इस निजी एकांतिक साम्राज्य को रचने के लिए संगीत का साधक बड़े कठोर नियमों का संयमित पालन करने के लिए मजबूर होते हैं। गायक के अभ्यास में गले की साधना और दिमाग का समन्वय और वादक के अभ्यास में हाथ और कल्पना का तालमेल अनिवार्य है। यह अभ्यास करने की पद्धति सभी के लिए एक जैसी ही नहीं बन पाती। साधक के मानसिक जगत् के विकास को सृष्टि में रखते हुए ही अच्छा गुरु या उस्ताद से तालीमशुरू करता है। कल्पना में अक्सर चित्र बनते रहते हैं। अभ्यास के बीच उभरने वाले इन चित्रों को समरस करके उन्हें संगीतज्ञ जितने ही सुचारु रूप से व्यवस्थित कर लेता है उतनी ही उसकी साधना सही ढर्रे पर चलती हुई समझी जाती है। अभ्यास सही हो रहा है इसकी कसौटी की पहली सीढ़ी है। संगीत साधक के भीतर जागता हुआ आत्मविश्वास। गले और दिमाग का एक ही समन्वित प्रभाव इसी आत्मविश्वास से ही जन्म लेता है।

अभ्यासरत गायक की आवाज़ परिसर या उसकी "लालित्य" कितनी है इस पर उसका अभ्यासआधारित होता है। वादक के लिए वाद्य की सुर सामंजस्य की क्षमता विकसित करना ही पहला लक्ष्य हो जाता है। वाद्य में "टोनल प्रवीणता" ही उसके परिसर का विस्तार कर पाती है। यह स्वर के तीनों सप्तकों मंद्र, मध्य और तार सप्तकों के बीच विचरण करने से ही प्राप्त होती है। इन सप्तकों में सुरों के लालित्य और वांछित प्रभाव को बनाये रखते हुए निर्भय होकर चलना संगीत के कलाकार का अभीष्ट होता है। तेज़ भागने वाले गले और उस चलने वाले गले के लिए रियाज़ के नियम भिन्न हो जाते हैं। सीखने की इस पद्धति से अनभिज्ञ कलाकार अक्सर जो रेडियो या ग्रामोफोन रिकार्ड सुनकर विभिन्न प्रकार की चीजों के प्रति आकृष्ट होकर उन्हें अपने गले में बिठाने की कोशिश करते हैं वे केवल विसंगति से हास्यास्पद प्रभाव डाल देते हैं। रियाज़ बहुत कुछ शरीर-धर्म की बनावट पर भी निर्भर करता है। इस प्रक्रिया में "सुर" की साधना का बड़ा महत्व सदियों से रहा है। बहुत अच्छे गायक अपने अभ्यास में इसी 'षड़ज' को लगाने के लिए साधना करते हैं। कभी-कभी यह 'षड़ज' इतना जाग्रत हो जाता है कि गायक जब अपनी प्रस्तुति में प्रारंभ करते ही सुर लगाता है तो श्रोताओं को रोमांच हो आता हैऔर उनमें आनंद की एक लहर दौड़ जाती है। यह षडज की साधना का प्रतिफल होता है। अभ्यास का समय भी निश्चित किया गया है। राग और गायक की प्रकृति के अनुसार और अभ्यास की आवश्यकताओं के अनुसार प्रातःकालीन अभ्यास में सुर की साधना के साथ-साथ राग को मनोनुकूल कल्पनाओं में गूंथने की प्रवृत्ति दूसरे ढंग की होती है। रात्रि के शयन के बाद गले या हाथ की जो निहित प्रकृति या स्वभाव

रहता है—गायक उसे समझकर अपना अभ्यास उसी सीमाओं में करता है।[9]

हम इस अभ्यास पद्धति को ऐसा भी कह सकते हैं कि प्रातःकालीन रियाज़ संगीतज्ञ का आत्मसाक्षात्कार है और सायंकालीन रियाज श्रोता की उपस्थिति और महफ़िलों को ध्यान में रखकर करने की परंपरा रही है। शाम के अभ्यासमें ही गायक या वादक की "तैयारी" विकसित होती है। ताल के साथ बँधकर संगीत का कलाकार सीमाएँ बाँधता है और फिर अपनी ही कल्पना से उस बंधन को भी अपनी ही लय का अभिन्न अंग बना लेता है। अभ्यास के लिए प्रायः गायक या वादक एकाध राग ही चुनते रहे हैं। उसी एक राग पर रियाज़ करते-करते वे संगीत विद्या के निपुण हो गये हैं। इस क्षेत्र में आश्चर्यचकित करने वाली स्थितियाँ रही हैं जहाँ एक-एक मूर्धन्य कलाकारों ने 'यमन' जैसे एक संपूर्ण राग के अभ्यास में बीस वर्ष तक भी लगा दिये हैं। एक इसी राग पर गहरा अधिकार प्राप्त करके उसके आलाप, तान, खटके, कण-मींड सब कुछ आत्मसात करके वे विभिन्न राग-रागनियों के अधिपति बन गये हैं। फिर इसी में से पूरिया या पूरिया धनाश्री भी अपने आप निकलता है। पहले केवल तीन या चार मूल राग सिखाने की और उसी पर अभ्यास करने की परंपरा थी। उसी से बीस रागों में विचरण करने की क्षमता आ जाती थी। नये गायक या वादक के पास इतना समय नहीं हैन देना चाहते हैं। आज सभी लोग कई धंधे करते है और गाना बजाना सीखकर जल्दी से जल्दी प्रोग्राम करना चाहता है, यश और पैसे दोनों कमाना चाहते है। उसके लिए अलग-अलग स्रोतों से सीखने के लिए भागता है। अल्प साधना को ही अपनी गायकी मान लेता है, ताल नापने का यंत्र लगाकर गाना बजाना करता है। जीवित तबले वाले का सामना करने में घबराहट महसूस करता है। अपनी कला का विज्ञापन करके रातोरात रियाज़ करने की पुरानी पद्धति को निरर्थक घोषित करना चाहता है। ऐसी स्थिति मे अनेक नये संगीतज्ञ अपनी पूरी गायकी पद्धति में मुद्रादोष के साथ विसंगतियाँ बटोरने और राग के स्वरूप से क़तई अलग जाने के लिए मजबूर हैं। पुरानी पद्धति का गायक कहता है - अभ्यास में कोई शॉर्टकट है ही नहीं। जहाँ दस बरस लगना है वहाँ दस ही बरस लगेगा। उसे खींचकर छोटा-बड़ा नहीं किया जा सकता। उस्ताद की जगह किताब या मशीन नहीं ले सकती। लेकिन आज की पीढ़ी कुछ और करने पर ही अमादा है।

निष्कर्षतः ध्यान और रियाज़ चेतना के परिवार का मुखिया बन कहन को संगीतमय बना देता है भाव-विभाव तिरोहित हो जीवन को नूतनता प्रदान करने हेतु आलाप, तान, लय,ताल किसी मोरनी को नृत्य के लिए आतुर कर देते हैं। यानि जीवन नवजीवन के आँगन में चहल कदमी करने लगता हैद्य जीते तो यहाँ सभी हैं मगर जीवन उसी का जीना है जो समझ की समझ रख ध्यान में उतर संगीत रूपी ईश्वरीय स्वर को सस्वर करे। बहुत से संगीत प्रज्ञ ईश्वर के ईश्वर बन जाते जिन्हें पशु-पक्षी, लता, वृक्ष, हवा-वर्षा, भूत-प्रेत, डाकिनी-पिशाचिन भी ध्यानस्थ समझ की विकास यात्रा में लग जाते हैं। ध्यान की प्रक्रिया संगीतीय समझ की प्रवीणता अभ्यास द्वारा हीं लक्ष्य तक पाहुचने में सहायक सिद्ध हो सकती है।

संदर्भ

(1) जोशी, अंजरी; (2002) भारतीय संगीत की परंपरा, नेशनल बुक ईस्ट इंडिया, नई दिल्ली, पृष्ठ-5-7
(2) नारायण, पुष्पम; (2012) भैरवी संगीत शोध पत्रिका, मिथिलांचल संगीत परिषद, दरभंगा,पृष्ठ-70
(3) गर्ग, लक्ष्मी नारायण; (1980) आवाज सुरीली कैसे करें, हाथरस प्रकाशन,पृष्ठ-26
(4) वर्मा,केशवचंद्रा;(1988) कोशिश संगीत समझने की, प्रदीपन प्रकाशन, इलाहाबाद,पृष्ठ- 61
(5) अखंड ज्योति, मथुरा जनवरी 2002,पृष्ठ- 20
(6) अग्रवाल, वंदना; (2010)भारतीय संगीत इतिहास और समाज के विकास में उसका योगदान, शलभ पब्लिकेशन हाउस नई दिल्ली,पृष्ठ- 133
(7) वहीं, पृष्ठ-135
(8) पाठक, जगदीश नारायण; संगीत निबंध माला,पृष्ठ-135
(9) वर्मा, केशवचंद्रा; (1988) कोशिश संगीत समझने की, प्रदीपन प्रकाशन, इलाहाबाद, पृष्ठ- 42-44

लोक संस्कृति के उद्‌गायक : पं. रामाश्रय झा 'रामरंग'

डॉ. राजीव कुमार

जब किसी विषय पर अपने विचार प्रकट करने होते हैं, तो सबसे पहले उस विषय-वस्तु की जानकारी होना आवश्यक बताया गया है। ऐसा नहीं है कि सारे के सारे लोग सर्वज्ञ ही हैं, परन्तु बहुत तो हो सकते हैं। सबों की अपनी-अपनी समझ हो सकती है। कुछ समझ ऐसी होती है जो सामूहिक हो जाती है। जो समझ सामूहिक हो, उसकी गणना संस्कृति के अन्तर्गत होने लगती है, क्योंकि संस्कृति व्यष्टि नहीं समष्टिपूर्वक होती है। एक आदमी की रचना को कृति कह सकते हैं परन्तु समाज की रचना को कृति नहीं बल्कि संस्कृति कहा जाता है। मूलतः हम सही समझते आ रहे हैं। इस संस्कृति में जब लोक शब्द का जुड़ाव हो जाता है तो इसका परिप्रेक्ष्य व्यापक हो जाता है। यह समास से व्यास का यात्रामार्ग है। यह एकत्व से बहुत्व ही ओर गमन है। व्यष्टि में समष्टि का अविर्भाव है, जिसे अमूमन लोक संस्कृति कहा जाता है।

संस्कृतियाँ सामाजिक कलेवर ओढ़े हुए रहती हैं। समाज का जैसा स्वरूप होता है, संस्कृति वैसी ही दिखती है, तब सवाल उठता है कि लोक संस्कृति क्या है? इसे समझने के लिए व्याकरण शास्त्र में झाँकना चहिए।

व्याकरण शास्त्र में लुक्‌दर्शने कहा गया है। मतलब 'लुक्' धातु से ही लोक शब्द का निर्माण हुआ है। मूल धातु में 'धञ्' प्रत्यय करने पर लोक शब्द बनता है। अभिप्राय यह है कि जो हमें दिखाई देता है उसे ही लोक कहा गया है। सभी देवताओं के अपने-अपने लोकों का वर्णन भी मिलता है। इस दृष्टि से देखने पर लोक एक संसार का नाम है जो दृश्यमान है। कालान्तर में इसी लोक शब्द का देशज लोग हो गया। जो लोक का सूक्ष्मतर रूप है। लोक में सामाजिक परिवेश का चित्रण भी है। एक लोक में कई-कई समाज हो सकते हैं। समाज की विभिन्न अवधारणाएँ, मान्यताएँ, प्रचलन, नियम-कानून, सामाजिक प्रतिबद्धताएँ, सामाजिक अवहेलनाएँ, ये सभी लोक संस्कृति में ही आती है। कुछ लोग दृश्यमान हैं और कुछ लोग अदृश्य। ज्ञानमार्गियों के लिए यह अनुसंधान का विषय हो सकता है। परंतु भक्ति और प्रेम मार्गियों के लिए यह अनुसंधान के बदले आनन्द का विषय हो जाता है।

हम जिस लोक संस्कृति की बात करते हैं, वह अपने आप में समृद्धतम है। भारतीय संस्कृति में लोकाचार का अपना एक अलग स्थान है। भारत एक बहुत विशाल देश है, इसमें कई प्रान्त हैं। प्रान्तों में अलग-अलग तबको के अलग-अलग संस्कृतियाँ हैं। इस सम्पूर्ण संस्कृतियों से अलग हटते हुए हमारा ध्यान सिर्फ उत्तर भारतीय संस्कृति पर है, जिसमें मैथिल समाज का अपना एक अलग संस्कार है और अलग संस्कृति। इस समाज में भगवत् तत्व को भी लौकिक दृष्टि से देखने की परंपरा है। यहीं भगवान को भगवान नहीं पाहुन समझा जाता है। यह भक्ति मार्ग का अनुपम उदाहरण है। जहाँ भगवान भी समाजीकरण के बंधन में दिखाई देते हैं। वे किसी के पुत्र हैं, किसी के भाई हैं, किसी कि पति हैं, वो किसी के मित्र। समाजिक मान्यताओं के मुताबिक उनका भी षोडस संस्कार होता है। उनकी प्रार्थना भी होती है और मजाक भी किया जाता है। यह अपने आप में एक अजब संस्कृति है जहाँ देवत्व

पूर्व शोध छात्र, विश्वविद्यालय संगीत एवं नाट्य विभाग, ल. ना. मि. वि. वि. दरभंगा

को भी मानवत्व दे दिया गया है।

जब किसी लोक् व्यवहार के बारे में विचार करते है तो मिथिला का लोक व्यवहार अपने आप में अनुपम लगता है। यहाँ की संस्कृति में जनम से लेकर मरण तक के कार्य विधानों में संगीत को गुंफित कर दिया गया है। सांगीतिक दृष्टि से देखें तो जन्म से ज्यों-ज्यों आगे बढ़ते हैं, त्यों-त्यों प्रत्येक प्रसंग की सांगीतिक लड़ियाँ जुड़ती चली जाती हैं। (उदाहरणार्थ) बधैया, सोहर, नामकरण, मुंडन, सिंदूरदान, विदाई गीत, से लेकर निर्गुण तक गाए जाते हैं। इसके अलावे ऋतु गीत, झूला, कजरी, चौमासा, बारहमासा, झूमर, होरी, चैती, नचारी, किसानी गीत, लोक के विभिन्न दशाओं के गीत इत्यादि व्यवहृत होते चले आ रहे हैं, और इन सारी विधाओं को एक में समेटना असंभव नहीं तो दुरूह अवश्य है।

पं. रामाश्रय झा 'रामरंग' की बंदिशों में इन तमाम विधाओं के स्वर संगीत विद्यमान है। उन्होंने जो संगीत काव्य लिखा, उन ग्रंथों में स्वराबद्ध विभिन्न स्वर लिपियों द्वारा इन्होंने समाज की इन सभी विधाओं के मर्म को छू लिया। कहीं पर बंदिश के रूप में ही चैती, होरी, झूला, फाग, बटगमनी आदि को लिपिबद्ध कर दिया है, तो समाज में व्याप्त लोक व्यवहारों के भरी हुई बंदिशें रामायण में उल्लेखित कर दिया है। इनकी रचनाओं के विशाल सागर से हम इन्हीं मोतियों को ढूँढ़ने का प्रयास करेंगे।

हमारे यहाँ प्रत्येक कार्य का प्रारंभ गणेश पूजन से किया जाता है, एतदर्थ उन्होंने कई गणेश वंदन प्रस्तुत किये हैं। अभिनव गीतांजलि भाग-5 में राग बिलावल के अन्तर्गत मैथिली भाषाबद्ध एक तीनताल की बंदिश प्राप्त होती है जो इनकी प्रादेशिक लोक संस्कृति के उद्‌गायक होने का प्रमाण है। मूलतः मैथिली भाषी विद्वान पंडित ने इसी भाषा में गणेश वंदन करके यह साबित कर दिया है कि संगीत के द्वारा लोक संस्कृति का आलोक फैलाया जा सकता है।

राग बिलावल- त्रिताल (मध्य लय) (मैथिली भाषा में)

स्थाई- बिघन हरण गज वदन दया करू, हरू हमर दुःख तापसंताप।

अंतरा-कतेक कहब हम अपन अवगुन, अधम आयल 'रामरंग' अहां शरण, आशुतोष सुत गणनायक वर दायक सब विधि टारू पाप।।

स्थाई- सुमिरों गजानन को मना, सुमिरत ही सिध होत काम।

अन्तरा- एक दन्त लन्बोदर गणपति, गौरी सुत सब दुःख हरना, 'रामरंग' बनिजात लेत नाम।।

इसी तरह उन्होंने 'सुमिरो गजानन को मना' इसे स्वरबद्ध किया है।

मिथिला में गुरू वंदना, देवी वन्दना, कुल देवता गीत, गोसाउन गीत आदि की भी परंपरा है। पंडितजी ने इसका भी निर्वाह किया है। इन्होंने राग बिलावल में तीनताल मध्य लय में गुरू वन्दना की है।

राग बिलावल- त्रिताल (मध्य लय)

स्थाई- गुरू चरनन चिज धरिये मनवा, गुरू पद रज वन्दन करिये नित, सुमिरिय नामहिं आठों जाम।

अन्तरा- गुरू ब्रहमा गुरू बिष्णु महेश्वर, गुण गावे नारद शुक मुनिवर, रामरंग गुरू ब्रहमा समान।।

इस में गुरू स्थान ब्रहमा, बिष्णु, महेश्वर आदि से भी ऊँचा माना गया है।

देवी गीत के रूप में इन्होंने राग भैरवी में एक मर्मस्पर्शी बंदिश लिखा है जिनमें भगवती के विभिन्न नामों का उच्चारण किया गया है। हमारे यहाँ कुल देवताओं के नाम में अन्तर होते हैं। इन्होंने एक ही बंदिश में देवी के अनेक नामों का उच्चारण करके इसे देवी गीत ही बना डाला।

राग भैरवी- एकताल (मध्य लय)

स्थाई- भैरवी भवानी देवि, वैष्णवी अनेक नाम, चण्डिका कालिका।

अन्तरा- हिमगिरि नन्दनी, विपत्ति बिमोचनि, 'रामरंग' जगत जननि, प्रणत पालिका।

राग बिलासखानी तोड़ी में जगदम्बिका अम्बिका करके इन्होंने लिखा है जो मूलतः गोसाउन गीत है।

राग बिलासखानी तोड़ी- त्रिताल (मध्य लय)

स्थाई- जगदम्बिका अम्बिका मर्दनी अम्ब शुम्भ निशुम्भ गले मुण्ड मालिका।

अन्तरा- दुर्गे भवानी दानी दयानी, सुर नर कीन्हें अभय 'रामरंग' तेरो ही नाम कालिका।

इसी तरह राग गोपिका बसंत में एक ताल मध्य लय में इन्होंने जय जय जय जग जननी.....

राग गोपिका बसंत एकलाल (मध्यलय)

स्थाई- जय जय जग जननि माँतु सेवत सुखकारी।

अन्तरा- निसदिन तेरो नाम रटे, सकल पाप ताप कटे, 'रामरंग' बिहान हरो भक्तन भय हारी।।

हमारे भारतीय संस्कृति में जन्म के अवसर पर ही सांगीतिक कार्यक्रम आयोजित करने का प्रचलन है। यह एक प्रकार का मंगल-गायन है जिसे देशी भाषा में मंगलगीत, सोहर अथवा बधैया कहा जाता है। इस शब्दों से इसी आयोजन का इशारा मिलता है। यह एक प्रचलित पद्धति है जो अनादिकाल से अद्यतन है। पंडित श्री रामरंग जी ने इस प्रकार के संगीत को छुआ है, जिसका रसास्वादन उनके द्वारा रचित संगीत रामायण बाल कांड में उल्लिखित है। इस बधैया के लिए इन्होंने राग आनन्द भैरव का चयन किया है। ताल सवैया लय के झपताल को चुना है, जो मदहोश कर देने वाले आनन्द का प्रतीक माना गया है।

उदाहरणार्थ-

राग आनन्द भैरव-झपताल

स्थाई- आनन्द भयो री, आज दशरथ घर, ललना भये चारि सुख के सागर।

अन्तरा- धन कौशिला धन कैकई सुमित्र, 'रामरंग' पायो सुत गुन के आगर।।

इसी परिपेक्ष्य में उन्होंने वाद्‌यों के स्वयमेव मुखरित हो जाने का भी वर्णन किया है। यह वाद्‌यों का स्वनिनाद है जो वाद्य बधैया के रूप में भीमपलासी झपताल लिपिबद्ध है। किंबहुना; इन्होंने बधाई के लिए एक अलग राग की ही रचना कर डाली जो 'रामप्रिया' नाम से प्रचलित है।

हमारे समाज में नवजात शिशुओं के नामकरण की भी प्रथा रही है। पंडित जी ने नामकरण की लोक परंपरा का स्पर्श करते हुए राग मंगल गुजरी तीनताल मध्यलय में इस प्रसेग की भी बंदिश लिख डाली है। आमतौर पर प्रत्येक मानवीय प्रथाओं को सूचित करने वाली बंदिशे कम ही देखने को मिलती है। पंडित जी की गूढ़ दृष्टि इतनी है कि इन्होंने छोटी से छोटी परंपरा की भी अवहेलना नहीं की है।

वैवाहिक कार्यक्रम में विधि-विधानों की प्रचूरता रहती है। यह एक ऐसा संस्कार है जिसमें ब्रहम को भी माया के शरणागत होना पड़ता है जिसे लौकिक रूप से गाने का प्रचलन रहा है। भारतीय समाज में विवाह, मुण्डन और उपनयन ये तीन ऐसे संस्कार हैं जिनके लिए परंपराओं का आवश्यक निर्वाह माना गया है। पंडित जी ने इस प्रथा को भी बखूबी निभाया। विवाह में ओढंगर, गठबंधन, कन्यादान, सिन्दूर-दान, जोग आदि प्रचलित है। पंडित जी ने अपनी चतुराई से इन सारी विधाओं को विभिन्न रागों में स्वर बद्ध किया है। विवाह विधा के लिए पंडित जी ने राग छायानट का प्रयोग किया है।

राग-छायानट- रूपक ताल (विलंबित)

स्थाई- आज बनि आये दुलहा मेरे द्वारे जगत के नाथ।

अन्तरा-मंडप मॉझ दोक बिराजे, 'रामरंग' सिय सुकुमारी रधुनाथ।।

इसी तरह, सिंदुर दान की विधा राग श्याम कल्याण में है।

राग श्याम कल्याण-एकताल

स्थाई- ऐसे सुबना के बल-बल जइये, जिन माँग भरे मेरी लाडली के।

अन्तरा- मण्डप दोउ बिराजे निरख छवि मदन रति लाजे,

मुख शोभा बरनि न जाय लाड लाडली के।।

पंडितजी ने जोग के लिए राग मारवा में बंदिशें दी है।

राग मारवा-रूपक विलम्बित

स्थाई- जोग ले आये तुम उधो, मैं सुहागन कैसे जोगन बनू।

अन्तरा-बेन्दी भाल मांग जहं सेन्दुर 'रामरंग' भसम रमाये कैसे जोगन बनू।।

इसी संदर्भ में इन्होंने भतखैय और विदाई को

बागेश्वरी में लिखा हैं।

राग-गारा-त्रिताल (मध्यलय)

स्थाई- जनक जेनवार दियो बहु भाँति, गनै को व्यंजन अगणित जाति।

अन्तरा-सखि सब गावहिं मंगल गारी,

लै-लै नाम पुरूष अरू नारी, सुनि आनन्द बराती।।

राग बागेश्वरी-त्रिताल(मध्यलय)

स्थाई-जनक सों कह्यो मुदित मुनिराज,

चलन चहत अवधेश अवधपुर करिये बिदाई को साज।

अंतरा-जनक जाय रनिबास सुनायों सुनत बिदाई की बात,

वैदेही पुनि-पुनि उर लावहिं, बिरह बरनि नाहिं जात।।

बेटी के विदाई का क्षण बड़ा मार्मिक होता है। इस मार्मिकता को भी इन्होंने बड़ी कुशलता से लिया है। जिसे जोगिया में प्रस्तुत किया गया है।

राग जोगिया- त्रिताल(मध्यलय)

स्थाई- जनकपुर ते जब जानकी चली,

मातु-पिता परिजन की मारहु मुरझी प्राण की कली।

अंतरा-सुक सारिका कहहिं कहं जानकी, जानकी परम सनेही,

भये बिराग विहीन विदेह विदाई निरखि वैदेही,

''रामरंग'' जीवन मूरी जिमि चली।।

हमारे भारतीय समाज में जीवन की अंतिमावस्था के लिए भी संगीत का विधान रहा है। वास्तव में, इस प्रकार के संगीत में जीवन की निस्सारता और ईश्वर भक्ति की ओर प्रेरणा भरी होती है। जीवन में वैराग्य की आवश्यकता पर बल दिया जाता है। त्याग की शिक्षा होती है। इस संदर्भ में भी पंडित जी ने जीवन को नश्वर दिखाते हुए कई बंदिशें दी हैं जिसमें राग भैरव में समझ मर बावरे.....है। यह एकताल विलंबित में है जो और वैराग्यवर्द्धक हो गया है।

राग भैरव- एकताल (विलम्बित)

स्थाई- समझ मन बावरे सिख मेरो या जग जीवन है जैसो बारि बबूला।

अंतरा- कंचन काया काहे भरमाया 'रामरंग' रंगले तन काहे जग भूला।।

राग आनन्द भैरव- त्रिताल (मध्य लय)

स्थाई- हरि बिन तेरो कौन संग साथी बावरे नाम रटे दिन राती।

अंतरा- हरि भजन को ही आसरा कीजै, 'रामरंग' ही में मनहि रंग लीजै, सांझ सकारे दिना अरू राती।।

हम जब निर्गुण पक्ष पर दृष्टि डालते हैं तो राग गौरी झपताल में निबद्ध यह बंदिश भी दिल को छू जाती है जिसमें अक्षर- अक्षर में निर्गुणता भरी हुई है।

राग गौरी- (भैरव थाट) झपताल

स्थाई- या बेरिया में तू कित डोले री।

अंतरा- नितट अकेली संग ना सेहेली, पग-पग अपनी छवि तौले री।।

मानव के आजीवन संगीत विधाओं में कुछ तट के भी सामाजिक परंपरा रही हैं जिनमें झूमर, कजरी, झूलागीत, होरी, चैती, पूर्वी, किसानी, मौसमी, पर्व-त्यौहार आदि के गीत आते हैं। पंडित जी ने करीब- करीब सभी विधाओं को अपने संगीत ग्रंथावली में स्थान दिया हैं। इन सभी विधाओं पर कुछ-न-कुछ चर्चा करने की अपनी भी इच्छा हो रही है क्योंकि पंडितजी ऐसे आभापुंज है जिनकी ज्यों-ज्यों चर्चा होती है, आलोक बढ़ता जाता है। बानगी के तौर पर हम उदाहरण स्वरूप इनकी रचनाएँ प्रस्तुत कर रहे हैं जिनमें उपर्युक्त सभी विद्याओं की उचित भावनाएँ

नचारी-

राग विद्यापति कल्याण- त्रिताल(मध्य ताल)

स्थाई- भगति वश भेला शिव जिनका घर एला शिव, डमरू, त्रिशूल, बसहा, बिसरि उगना भेश करथि चाकरी।

अंतरा- जननी जनक धन 'रामरंग' पावल पूत एहन, मिथिलाक केलन्हि ऊँच पागड़ी।।

राग कौंसी- त्रिताल

स्थाई- बसायो कौन मन जाके दाया ना माया।

अंतरा- बास मसान बसन बाधम्बर तन 'रामरंग' भभूत काया।।

झूमर

राग बिहाग- त्रिताल (मध्यलय)

स्थाई- बाट निहारूँ आवन की मोरे पीहरवा तरसे जियरवा दरशन को।

अंतरा- आंगन झारूँ बार बुहारूँ चरण तिहारे परसन को।।

राग बिहाग - त्रिताल (मध्यलय)

स्थाई- पीहरवा मोरी मान ले रे अरज इतनी अनत जिन जा रे।

अंतरा-बैन सुनत अनत गवन की -रामरंग' मेरो कांपे जिया रे।।

कजरी

राग सूर मल्हार- त्रिताल (मध्यलय)

स्थाई- बरसन लागी बूँदरिया सावन की।

अंतरा- धन पर धननन गरजत बरसत दामिनी दमके जियरा लरजे, तान बरस मन भावन की।।

राग सूर मल्हार- त्रिताल (मध्यलय)

स्थाई- गरजत धन कारे कारे डर लागत है अंधियारे।

अंतरा- एक जो जोर बहे पुरवाई, दूजे झिंगुर झनकारे, कैसे 'रामरंग' बिन बरखा को दिन बीते री हमारे।।

होली गीत-

राग खमाज-बन्धी ठुमरी, त्रिताल

स्थाई- ना मानूंगी लाल तोरी विनती, मुख में मलूगीं तोरे अबिर गुलाल डारूँगी गिन-गिन रंग पिचकारी।

अन्तरा- छीन लूँगी तोरी मधुर मुरलिया, कंगना कर पहनाऊँगी, बेन्दी भाल नाक नकबेसर 'रामरंग' गिरधारी तोहे गिरधारी तोहे बनाऊँ ब्रज नारी।।

राग खमाज- दीवाचन्दी ताल

स्थाई- होरी खेलते मोसे नई री नई, का कहूं ननदी आज जो भई।

अन्तरा- बर-जोरी कर मोरी बैयां गहयोरी, अपनी कहत और एक ना सुनेरी आज लाज मोरी लई री लई।।

टोना गीत-

राग पूर्वी एकताल (बिलम्बित)

स्थाई- टोनमा हे माई कर दे जो वश होवे पिया मोरा।

अन्तरा-गर को हार दूँगी कर को कगंनमा, और मानूंगी गुन तोरा।।

राग पूर्वी एकताल (मध्यलय)

स्थाई- कवन मंत तंत्र, पढ़ि कियो री बस मेरो प्रीतम पिहरवा।

अन्तरा- बोलत नाही, नाही निहारत, ''रामरंग'' सोचना तन भयो पियरा।।

झूला गीत -

राग हिन्डोल बहार -धीमा त्रिताल

स्थाई-झूलत श्याम हिन्डोरे राधे संग गाय हिन्डोल बहार हरखि हरखि।

अन्तरा- श्याम बरन हरि राधे गोरी तर मिली दोउ भये ज्यों गंग जमुन जल 'रामरंग' सुख पावे हरखि -हरखि।

ऋतु गीत-

राग काफी- बन्धी ठुमरी- त्रिताल

स्थाई- आई-आई बसन्त रीतु सुहाने रंग, मिल खेलत फाग अनुराग राग, रंग रस बस सब सखियन के संग।

अन्तरा- रंग रंग सुमन सुगंधित फूले अमरइयन बौराई, कुहुकुहु करे कोकिला डारन, मधुर मधुर गुंजारे, होरी धुन गावे 'रामरंग' मन उमंग।।

राग बसन्त बहार- त्रिताल (मध्य लय)

स्थाई- अब आयो बसन्त री बाबरिया, तु मान हठीली हमरी बतियां उठ कर श्रृंगार है मिलन बेरिया।

अन्तरा- दिन मणि तपन लगे अब दिन दिन, नव पालव बेलिन भये वन वन, 'रामंरग' रंगीली भई तू जाग रिझावे री सांवरिया।

आधुनिक युग में भाव संगीत की तालिका में सूफी संगीत भी गिना जाने लगा है। हलाँकि यह संगीत पद्धति बहिरागत है। यह इस्लाम धर्म के प्रचार का माध्यम रहा है। संगीत की सारी क्रियाएँ इसमें होती हैं परंतु अंदाज अलग होता है। विद्वान पंडित श्री 'झाजी' ने संगीत के इस भाव को भी नहीं छोड़ा हैं। सूफियाना अंदाज में इन्होंने कई बंदिशें प्रस्तुत की है। उदाहरणार्थ एक दो बानगी प्रस्तुत है।

राग कलावती एकताल बिलंबित में इन्होंने एक सूफी संगीत प्रस्तुत किया है जिसे पाश्चात्य सूफियाना को प्राच्य मैथिलाना बना दिया।

राग कलावती- एकताल (विलंबित)

स्थाई- गरीब निवाज बिनति सुनिये, रखिये मोरी लाज।

अन्तरा- दीना नाथ दीन दुख हारी, 'रामरंग' मेरो विपदा हरो आज।।

दूसरी बंदिश साजगिरि तीनताल मध्य लय में आबद्ध है।

राग साजगिरि- त्रिताल (मध्य लय)

स्थाई- दरबार गाऊँ तोरे ख्वाजा मोई उद्दीन औलिया।

अन्तरा- तुम तो वीर फकीर अजमेरी दाता दीन गरीब के, बकम गुनाह मेरो औलिया।

इस तरह की और भी बंदिशें प्राप्त होती हैं। लेख के बृहत्काय होने के चलते सबों का उल्लेख उचित नहीं है। इसलिए, कलेवर संकोच करते हुए उपसंहृत किया जाता है।

जीवन की हरेक पहलू को संगीत के सुरों से भिगो कर जीने का प्रचलन हमारे समाज में रहा है। जहाँ जीवन है वहाँ संगीत है। जहाँ संगीत है, वहाँ आनंद है। जहाँ आनंद है, वहाँ ईश्वर है, वहाँ शांति है। शांति ही कर्म का ध्येय होता है। संगीत सद्यः शांति देता है। हमें प्रत्येक कर्म में संतुष्टि पूर्वक शांति की अभिलाषा रहती है। इसकी सम्प्राप्ति संगीत के बिना नहीं हो सकती है। मर्मज्ञ विद्वान पंडित स्व. रामाश्रय झा 'रामरंग' जी ने लगभग जीवन के हरेक सांगीतिक स्थानों का चित्रित किया है। जहाँ-जहाँ संगीत है, उसकी छवि इन्होंने उकेरी है। इसलिए इन्हें अभिनव त्यागराज कहा जाय तो इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

संदर्भ सूची

1. पं. रामरंग रामाश्रय झा (लेखक), अभिनव गीतांजलि, भाग-पांच, पृ. सं.-19
2. पं. रामरंग रामाश्रय झा (लेखक), अभिनव गीतांजलि, भाग-पांच, पृ. सं.-18
3. पं. रामरंग रामाश्रय झा (लेखक), अभिनव गीतांजलि, भाग-पांच, पृ. सं.-17
4. पं. रामरंग रामाश्रय झा (लेखक), अभिनव गीतांजलि, भाग-पांच, पृ. सं.-79
5. पं. रामरंग रामाश्रय झा (लेखक), अभिनव गीतांजलि, भाग-एक, पृ. सं.-154
6. पं. रामरंग रामाश्रय झा (लेखक), अभिनव गीतांजलि, भाग-दो, पृ. सं.-188
7. पं. रामरंग रामाश्रय झा (लेखक), डॉ. रामशंकर (संकलन एवं सम्पादन), 'रामरंग' संगीत रामायण भाग-एक (बालकाण्ड), पृ. सं.-73
8. पं. रामरंग, रामाश्रय झा (लेखक), डॉ रामशंकर (संकलन एवं सम्पादक), 'रामरंग' संगीत रामायण भाग-एक (बालकांड), पृ॰ सं- 132,
9. पं. रामरंग रामाश्रय झा (लेखक), डॉ रामशंकर (संकलन एवं संपादन), 'रामरंग' संगीत रामायण, भाग-एक (बालकांड), पृ॰ सं-133,
10. पं. रामरंग रामाश्रय झा (लेखक), अभिनव गीतांजलि, भाग-पांच, पृ॰ सं-105
11. पं. रामरंग रामाश्रय झा (लेखक) डॉ रामशंकर (संकलन एवं संपादन), 'रामरंग' सगीत रामायण भाग-एक (बालकांड), पृ॰ सं.-136
12. पं. रामरंग रामाश्रय झा (लेखक),डॉ रामशंकर (लेखक), 'रामरंग' संगीत रामायण, भाग-एक (बालकांड), पृ॰ सं॰-137
13. पं॰ रामरंग रामाश्रय झा (लेखक), डॉ॰ रामशंकर (संकलन एवं संपादन), 'रामरंग' संगीत रामायण, भाग-एक (बालकांड), पृ॰ सं॰-138

संगीत के क्षेत्र में रोजगार के अवसर

प्रो. पुष्पम नारायण*, दिनान्त भूषण**

प्रकृति द्वारा प्रदत्त मानव के सर्वोतम उपहारों में सबसे विशिष्ट है संगीत। यह संसार के अन्य योनियों को नसीब नहीं है। मानवीय संवेदनाएँ एवं अनुभूतियों को अत्यन्त ही प्रभावी एवं विस्फोटक तरीके से व्यक्त करने का जरिया है संगीत। सचमुच सभी ललित कलाओं (संगीत, चित्र, काव्य, मूर्ति एवं वास्तुकला) में अद्‌भूत एवं अतुलनीय है संगीत। संगीत हर जाति, सम्प्रदाय, मजहब से परे होकर मानव को व्यापक, व्यवस्थित एवं संताप-रहित करने के साथ ही आर्थिक रूप से सबल बनाने का सदा से ही एक माध्यम रहा है।

रोजगार अथवा धनोपार्जन के उद्देश्य से संगीत ऐतिहासिक सभी काल-खण्डों में व्यहत होता रहा है। वैदिक काल में यज्ञादि अथवा अन्य धार्मिक अनुष्ठानों के अवसर पर वैदिक ऋचाओं एवं स्तुति-मंत्रों को गाया जाता था। राजा-महाराजा अपनी विजय, मुक्ति (मोक्ष) एवं अन्य उद्देश्य की पूर्ति हेतु यज्ञादि करवाते, तत्पश्चात ऋषियों को दक्षिणा के रूप में जमीन तथा उपहार दिया करते थे। स्तुति मंत्रों को गायन करने वाला 'होता' तथा साम को गायन करने वाला 'उद्‌गाता' कहलाता था। मुख्य गायक के अतिरिक्त सह-गायक, उपगायक एवं वाद्यों की संगति करने के लिए अनेक वादकों की सम्मिलित समूह हुआ करता था। संगीत के भागों एवं उपविभागों के आधार पर व्यवसायिक संगीतज्ञों की जातियाँ सूत, शैलूष आदि थी। आगे चलकर साम गान के अलावा गाथा-गान का भी प्रचार-प्रसार था। जिसे साधारण लोग के बीच गाया जाता था। इसे 'नाराशंसी संगीत' कहते थे एवं गाथा-गान करने वाले 'गाथिन्' कहलाते थे।

बौद्ध कालीन जातक-ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि उस समय व्यवसायिक संगीतज्ञों को समाज में आदरणीय स्थान प्राप्त था। उन्हें विभिन्न मांगलिक अवसरों पर ससम्मान बुलया जाता एवं उचित पारिश्रमिक एवं पारितोषिक दिया जाता था। कौटिल्य के अर्थशास्त्र से यह ज्ञात होता है संगीत को राज्याश्रय प्राप्त था और गीत, वाद्य, नृत्य व नाट्य की शिक्षा देने वाले को शासन की ओर से लाभार्थ पारिश्रमिक भी मिलता था। जिससे संगीत के व्यवसायिक स्वरूप का पता चलता है। राजपूतों, अलाउद्दीन खिलजी, मुगल शासकों एवं राजा मानसिंह तोमर आदि के शासनकाल में भी संगीतज्ञ को राजकीय संरक्षण प्राप्त था। मध्यकालीन भारत में मुगलों के आगमन से सांगीतिक परिस्थितियों में कई बदलाव हुए। मुगल बादशाह ने कलाकारों को अपने राज दरबार में रहने एवं आर्थिक सहायता देकर संरक्षण देने का प्रयास किया। इनके द्वारा सुविधा एवं सम्मान दिए जाने के कारण संगीत-जीवी वर्ग संरक्षित एवं लाभान्वित हुआ। मुगल शासन के समाप्त होते ही इस विधा को मिले संरक्षण और सम्मान में कमी आनी शुरू हो गई एवं घरानेदार-शिक्षा पद्धति अंग्रजों के अंतिम शासन तक आते-आते क्षीण होती गई। इन्हें आर्थिक एवं राज्याश्रय-जनित सुविधाओं सं वंचित होना पड़ा। प्रायः संगीत की व्यावसायिक शुरूआत यहीं से प्रारंभ हुई।

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् प्रारम्भिक कक्षाओं से लेकर विश्वविद्यालय स्तर तक संगीत (गायन, वादन, नृत्य) को एक विषय के रूप में मान्यता प्राप्त हुई। आज सरकारी एवं गैर सरकारी कई शिक्षण-

*अध्यक्ष, वि.वि. संगीत एवं नाट्य विभाग, ल.ना.मि.वि.वि., दरभंगा

**शोध छात्र, वि. वि. संगीत एवं नाट्य विभाग, ल. ना. मि. वि. वि., दरभंगा

संस्थानों में अन्य विषयों की भाँति संगीत को भी पाठ्यक्रमों में शामिल किया गया है। वर्तमान समय में अनेक संगीत शिक्षण-संस्थानों के द्वारा ऐसे पाठ्यक्रम निर्मित किए जा रहे हैं जिससे इस क्षेत्र में रोजगार एवं व्यवसाय को बढ़ाया जा सके। यह अलग बात है कि इसके सकारात्मक प्रतिफलों के साथ ही कुछ नकारात्मक पहलू भी हैं। संचार एवं तकनीकी प्रगति ने संगीत क्षेत्र के संपूर्ण परिदृश्य को बदल दिया है। वर्तमान समय में संगीत प्रेमी वर्ग, विश्व-संगीत को इण्टरनेट के जरिए कहीं और किसी भी समय सुनने में सक्षम हैं। इसने संगीत के क्षेत्र को विकसित करने के विविध आयाम दिए। आज के समय में कोई भी प्रतिभा युक्त संगीत कलाकार निम्नलिखित क्षेत्रों में रोजगार अथवा व्यवसाय सृजन कर अर्थोपार्जन एवं स्वावलम्बन प्राप्त कर सकता है-

- माध्यमिक एवं उच्चतर माध्यमिक शिक्षा में, शिक्षक के रूप में।
- विश्वविद्यालय संस्थानों में शिक्षक एवं शोंधार्थी के रूप में।
- व्यक्तिगत अथवा प्राइवेट ट्यूशन के रूप में।
- दूरसंचार विभाग में।
- आकाशवाणी एवं दूरदर्शन के कार्यक्रमों में।
- केंद्रिय संगीत-नाट्य संस्थानों में।
- म्यूजिकल थेरेपी/संगीत चिकित्सा के क्षेत्र में।
- प्रत्यक्ष संगीत/सिने संगीत के क्षेत्र में, प्लेबैक सिंगर के रूप में।
- नाट्य संगीत के क्षेत्र में।
- गीतकार व सॉन्गराइटर के रूप में।
- संगीतकार के रूप में।
- संगीत निर्देशन के रूप में।
- कैसेट, सीडी, एल्बम निर्माता के क्षेत्र में/ रिकॉर्डिंग के क्षेत्र में।
- विभिन्न प्रादेशिक गीतों के अनुवादक, प्रकाशक एवं वितरक के अधीन।
- संगीत शास्त्रकार एवं ग्रंथ प्रकाशन के अधीन।
- संगीत पत्रकार, समीक्षक एवं संपादक के रूप में।

अतः निष्कर्ष रूप से कहा जा सकता है कि संगीत भी एक महत्वपूर्ण व्यावसायिक व रोजगार परक विषय है।

संदर्भ सूची :-

1. इण्टरनेट से साभार
2. परांजपे, शरत्चन्द्र श्रीधर, भारतीय संगीत का इतिहास

मानव मन और संगीत

डॉ. अंजू कुमारी

हम जब मन और संगीत पर विचार करते हैं तो समस्या मन शब्द को लेकर है कि मन का अर्थ गूढ़ है। अंग्रेजी में मन को Mind कहते हैं जिसका अर्थ हमें शब्दकोष में कई अर्थों में प्राप्त होता है। जैसे स्मरण शक्ति, लक्ष्य, ध्येय, चित्त लगाना, ध्यान देना, याद करना, Mind you own business, Never mind, at low mind, To the one mind, To call to mind, भूल जाना, To make up one's mind, दृढ़ निश्चय करना।

भारतीय मनोविज्ञान में मानव व्यवहार पर नहीं बल्कि मानव मन पर विशेष रूप से विचार किया गया है तथा 'मनस' शब्द का प्रयोग यंत्र के रूप में किया गया है। भाषा की दृष्टि से मनस का अर्थ मन, हृदय, समझ, प्रत्यक्ष, ज्ञान, प्रज्ञा आदि के अर्थ में लिया गया है। अनेक साहित्यिक रचनाओं में मन शब्द को सोच-विचार, कल्पना, प्रत्यक्ष-योजना, प्रयोजन, अभिप्राय, संकल्प, कामना, इच्छा, रूचि, विचार विमर्श आदि में प्रयोग हुआ है। भारतीय मनोविज्ञान में मन की प्रकृति का अधिकतर विश्लेषण उसको नियंत्रित अथवा अनुशासित करने के उपायों की विवेचना के प्रसंग में दिया गया है। भारतीय मनोविज्ञान के अनुसार अवधान मन का विशेष लक्षण है तथा उनके अनुसार मन की निम्नलिखित अवस्थाएं बतलाई गई है। रामनाथ शर्मा द्वारा लिखित पुस्तक 'भारतीय मनोविज्ञान' से उद्धत है।

मूढ़ : जो मन मिथ्या दृष्टि और मिथ्या आचार से व्याप्त होता है उसे मूढ़ कहा जाता है। यह योग साधना के योग्य होता है।

विक्षिप्त : जो मन इधर-उधर विचरण करता रहता है और किसी एक विषय पर स्थिर हो सकता है उसे विक्षिप्त कहा जाता है। यह मन की चंचलता की अवस्था है।

यातायात : जो मन कभी अंतर्मुखी और कभी बहिर्मुखी होता है उसे यातायात कहा जाता है। योग की प्रारंभिक अभ्यास की अवस्था में दिखलाई पड़ती है।

शिलष्ट : ध्येय में स्थिर बने हुए मन को कोक श्लिष्ट कहा जाता है। यह अंतर्निरीक्षण के अभ्यास का परिणाम है।

सुलीन : अपने ध्येय में सुस्थिर मन सुलीन कहलाता है। श्लिष्ट दशा के समान मन की यह अवस्था भी परिपक्व अभ्यास वाले योगियों में होती है। इन दोनों दशाओं में मन ब्राह्य वस्तुओं को ग्रहण नहीं करता है और इसलिए उसे सहज आनंद का अनुभव होता है। इसमें ध्येय सूक्ष्म यानि अपना अस्तित्व खो देता है।

चेतनावस्था : चेतन मन का अस्तित्व वर्तमान स्थिति पर आधारित होता है। जब हम कुछ सीख रहे होते हैं तो हमारा चेतन मन नहीं सक्रिय होकर क्रिया-विशेष को ग्रहण करने में सहायक होता है। मन की कुल शक्ति का दस प्रतिशत हिस्सा ही चेतना मन के पास है।

अवचेतनाअवस्था (**Sub conscious stage**) : यह मन की सबसे सक्रिय एवं महत्वपूर्ण अवस्था है। मन की शक्ति का नब्बे प्रतिशत हिस्सा अवचेतन मन के पास है। किसी क्रिया-विशेष को सीख लेने के पश्चात् यह अवचेतन मन में चली

एसोसिएट प्रोफेसर, संगीत विभाग, एम.ए.एम. कॉलेज, नवगछिया, टी.एम.बी.यु. भागलपुर

जाती है और आवश्यकतानुसार अवचेन मन उसे पुनः अभिव्यक्त करता है। अतः अवचेतन मन का प्रधान कार्य सीखे हुए क्रिया या ज्ञान को उचित समय पर अभिव्यक्त करना। यह अवचेतन में नहीं मानव की समस्त क्रिया प्रतिक्रियाओं का केन्द्र कम्प्यूटर कहा जा सकता है।

अचेतनावस्था (Unconsion stage) : यह मन की वह अवस्था है जिसमें व्यक्ति किसी क्रिया विशेष को ग्रहण करने व प्रतिक्रिया करने की स्थिति में नहीं रहता। अचेतन मन की प्रबलता चेतन व अवचेतन मन को निष्क्रिय कर देती है, जिससे व्यक्ति व्यवहार में असामान्य हो जाता है।

मन और शरीर एक दूसरे के पूरक हैं। मन शरीर के बिना नहीं रह सकता और न ही शरीर मन के बिना। मन की प्रत्येक क्रिया का प्रभाव शरीर पर पड़ता है और शरीर की क्रिया का प्रभाव मन पर पड़ता है। किसी व्यक्ति को जब प्रसन्नता होती है तब उसका शरीर फुर्तीला हो जाता है और दुःख होता है तब शरीर सुस्त हो जाता है। मानसिक क्रियाओं के संपादन में शरीर का महत्वपूर्ण योगदान है, क्रिया की अधिकता से थकान पर आघात होता है और शरीर अस्वस्थ हो जाता है, ऐसी अवस्था में वैचारिक शक्ति पर आघात होता है। उसका तारतम्य टूट जाता है। जब कोई शरीर में क्षति हो जाती है तो आंतरिक वेदना होती है। विचार, वेदना और थकावट की अनुभूति मन को होती है किन्तु मानसिक अनुभूतियों के साथ-साथ शारीरिक क्रियायें भी होती रहती है। इसी विचार का समर्थन करते हुए John B. Watson का कहना है-

'We think with the whole body when an individual reacts to an object or a situation his whole body reacts.'

George Hurtman ने भी इसी विचार का समर्थन किया है-

'The body breath runs and digest but it also loves dreams and write history.'

काल को मन की अभिव्यक्ति कहा जाय या शारीरिक प्रतिबद्धता की स्वीकारोक्ति अथवा कंडीशन्ड (Conditioned) शारीरिक क्रिया कहें इस विषय में कुछ धारणाएं इस प्रकार हैं -

पारस्परिक प्रतिक्रियावाद : इसके अनुसार मन और शरीर दो भिन्न पदार्थ हैं किन्तु मन तथा शरीर दोनों एक दूसरे पर प्रभाव डालते हैं।

चेतन्यवाद और कला : इसमें मस्तिष्क और शरीर की सभी क्रियाओं को मन की कलात्मक चेतना और इच्छाओं के परिणाम बताता है।

वस्तुतः कला और मन का घनिष्ठ संबंध है क्योंकि मनुष्य की कलात्मक चेतना का परिचालन मन की सहज क्रियाओं और मूल प्रवृत्तियों पर आधारित है।

मन का एक अर्थ मस्तिष्क भी है। मस्तिष्क को 3 भागों में विभक्त किया जाता है—वृहत मस्तिष्क, लघु मस्तिष्क, सेतु।

इन तीनो भागों के कार्य भिन्न-भिन्न हैं। वृहत मस्तिष्क में ज्ञान और क्रिया उत्पादन स्थल है। लघु मस्तिष्क का प्रधान कार्य विभिन्न प्रकार की उत्तेजनाओं में संबंध जोड़ना और शरीर में क्षमता आदि क्रियायें मस्तिष्क के अधिक निकट हैं - Sherringstan, Adrian Panifield, Fultone, Pope, Cobb आदि विचारकों ने Act of response की तीन अवस्थाएँ मानी हैं-

Singal, Sign an symbol, Movement.

पहली अवस्था में सांगेतिक ध्वनि या ताल के प्रकार कानों द्वारा मस्तिष्क में पहुँचते हैं तो Cerebral Cordate में ग्रहण किये जाते हैं अर्थात् इस अवस्था में ध्वनि का कान द्वारा श्रवण करना कह सकते हैं। जब वह सांगीतिक ध्वनि मस्तिष्क में पहुँचती है तो उसको पहचान लिया जाता है जिसे प्रत्यक्षीकरण कहते हैं। इस क्रिया में दो और चीजें महत्वपूर्ण भाग लेती है-

स्मृति-जो किसी समय सीखे हुए राग जो अवचेतन मन में इकट्ठे हो जाते हैं उस ध्वनि का एकीकरण हो जाता है।

Electro Chemical activity of the cerebral condate - इतनी क्रिया होने के पश्चात् मस्तिष्क के जो अर्थ Transform किये जाते हैं अर्धपूर्ण होते हैं जैसा कि Coded Pattern जो मस्तिष्क में बैठ जाते हैं।

तीसरी अवस्था में Coded Pattern का मूर्त रूप प्रदान करना है इसी अवस्था को हम Out put

कह सकते हैं। अर्थात् जो भी कुछ सीखा गया है उसको दुबारा प्रस्तुत करना।

अब तक के अध्ययन से यह बात सामने आती है कि मानसिक क्रिया तथा शारीरिक क्रियाएं अलग-अलग हैं लेकिन अप्रत्यक्ष रूप से दोनों एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। संगीत सीखने के लिए मानसिक क्रियाओं के साथ-साथ शारीरिक क्रियाओं का सक्रिय होना आवश्यक है या इसको शारीरिक स्वस्थता भी कहा जा सकता है। शरीर का कोई भाग अपंग नहीं होना चाहिए। कान, नाक, हाथ, पैर, गला आदि सब सक्रिय होना चाहिए। किसी अन्य प्रकार से रोगग्रस्त नहीं होना चाहिए। क्योंकि शारीरिक अंगों द्वारा ही मानसिक क्रियाओं का प्रकाशन होता है। मानसिक क्रियाओं में संवेदना, प्रत्यक्षीकरण, स्मरण आदि है। अच्छे संगीत की निर्मिति के लिए कुछ मनोवैज्ञानिक तत्व काम करते हैं।

मानव शरीर एवं उसकी इन्द्रियाँ तथा अन्य अवयव ही बाह्य व भीतर के वातावरण से ओत-प्रोत होकर एक विशेष 'मनस' का निर्माण करते हैं। इस विशेष मनस से संबंधित संवेग, संवेदना, चिंतन, मनन, भाव इत्यादि ही व्यक्तित्व के निर्माण से लेकर व्यवहार की क्रिया-प्रतिक्रिया के निर्धारक बनते हैं। संगीत एवं अन्य कलाएँ मानव के व्यक्तित्व व व्यवहार से उत्पन्न, स्मृति, कल्पना व जिज्ञासा के वे अभ्यास है, जो मनुष्य की सभ्यता, संस्कृति व संस्कार के जनम व विकास के कारण बनते हैं। मानव-जीवन की यह समस्त क्रियाएँ व तथ्य ही उसका मनोविज्ञान भी है अर्थात् उसका प्रकट व्यवहार ही उसके आचरण, अनुशासन, आहार व अहम् का प्रतीक है।

मानव-जीवन से जुड़े प्रत्येक कर्म व उससे संबंधित मनोविज्ञान से भी संगीत का अटूट संबंध है। उत्पादक की योग्यता व उपभोक्ता के संयोग को प्रचारित व प्रभावित करने का कार्य, संगीत द्वारा सफलतापूर्वक होता रहा है। वर्तमान में संगीत स्वयं एक उद्योग के रूप में स्थापित है। इस कारण इसकी विशुद्धता का भी कुछ ह्रास अवश्य हुआ है। उद्योग से जुड़े लोगों के मनोविज्ञान को संगठित व संयमित करने के कार्य में भी संगीत का प्रयोग प्रभावकारी रहा है।

संगीत एक पवित्र अनुभूति व अभिव्यक्ति है। संगीत का साधन अपनी देह के यंत्र से सर्वप्रथम, स्वयं ही संगीत लय के गुणों को सुंनता व संग्रहीत करता है। संगीत एक साधक का आत्मिक व आध्यात्मिक धरोहर है। स्वयं के इस अनुभव व आचरण को श्रोता से बांटने का सौभाग्य, उसकी आराधना का सबसे महत्वपूर्ण पड़ाव है। इस संबंध व सत्संग के लिए साधक (संगीतज्ञ) व श्रोता को अनुशासन, आचरण, सहनशीलता व संगीत के नियमों व व्याकरण का उचित पालन करना चाहिए अन्यथा यह पवित्र व अत्यंत वैज्ञानिक कला, मानस को साधने की जगह मनोरंजन बन कर रह जायेगी।

सन्दर्भ - सूची

1. भार्गव, दीनानाथ, 'निदेश', श्री हरि गीता मानव धर्म कार्यालय, नई दिल्ली।
2. सिंह, जयदेव, भारतीय संगीत का इतिहास, हिन्दुस्तानी एकेडमी इलाहाबाद, 1985।
3. परांजपे, डॉ. शरतचन्द्र श्रीधर, भारतीय संगीत का इतिहास, चौखम्बा, वाराणसी, 2017।
4. कुलकर्णी, डॉ. वसुधा, भारतीय संगीत एवं मनोविज्ञान, राजस्थानी ग्रन्थागार, जोधपुर, 1990।
5. शर्मा, डॉ. स्वतंत्र, भारतीय संगीत, वैज्ञानिक विश्लेषण, प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली, 1996।
6. माथुर, डॉ. शोभा, भारतीय मेल अथवा थाट का ऐतिहासिक अध्ययन, वाई. ली. ईसटर्न, नई दिल्ली, 1992।

राजधारी गान (लोकनाट्य)

प्रो. पुष्पम नारायण*, हरिशंकर गुप्ता**

राजा का गान/नाच किया जाता है, इसलिए इसे राजधारी गान कहा जाता है। इसमे लंका की कथा/रावण का खेला दिखाया जाता है, इसलिए इसे लहंकारी भी कहा जाता है। बिहार से झारखंड के अलग होने के बाद शेष बिहारवासी, आदिवासी और उनकी संस्कृति को भूल गए। बिहार में आज भी कुल जनसंख्या का 1: आबादी आदिवासियों की है। वर्तमान में बिहार में 32 आदिवासी समूह निवास करती है। इन अदिवासी समूहों की समृद्ध सांस्कृतिक परंपरा है। इन्हीं आदिवासी समूहों में से एक है राजवंशी समुदाय। राजवंशी समुदाय की भी अपनी समृद्ध सांस्कृतिक परंपरा है। जिसमें कुशान पाला, भवैया, मदन काम, चंडी नाच, राजधारी गान इनके कलारूप हैं। आदिवासियों के कलारूपों की खोज के क्रम में हम पहुँचे ''आदि विंब महोत्सव'' बागडोगरा, जहाँ हमारी मुलाकात हुई किशनगंज जिले के ठाकुरगंज प्रखण्ड के ग्वालडंगी गाँव के गेरगेरू सिंह से। ग्वालडंगी जो बांग्लादेश, नेपाल तथा पश्चिम बंगाल की सीमा से लगा हुआ बिहार का एक गाँव है, जहाँ 50, 55 घर राजवंशी समुदाय के लोगों का है। इस गाँव में एक भी व्यक्ति स्नातक पास नहीं है। अधिकांश व्यक्ति या तो साक्षर हैं या पाँचवी सातवीं पास ही हैं। यहाँ के लोग परिश्रमी हैं, सभी की अपनी खेती है, अनानास, पटुआ, चाय, गरमा धान, की खेती यहाँ होती है।

गेरगेरू सिंह के छोटे भाई बिन्दुलाल सिंह के नेतृत्व में राजधारी गान का दल ग्वालडंगी से बागडोगरा आदि विम्ब महोत्व में भाग लेने आया हुआ था। हमने राजधारी गान की प्रस्तुति देखी। राजधारी गान के प्रदर्शन में मंच के नाम पर समतल भुमि और कुछ नहीं, कुछ खास दृश्यों में लकड़ी की तख्त एवं बाँस का उपयोग सिंहासन के रूप में राजा के बैठने के लिए। आंगन या मैदान में तीन स्तरीय उँचा (8 से 10 फीट) लकड़ी का तख्त रखा जाता है। यही तख्त बालि और रावण का सिंहासन होता है, राम और सीता भी यहीं बैठते है। इस प्रकार का मंच उड़ीसा के पारम्परिक नाट्य प्रहलाद नाट्कम मे देखने को मिलता है। वाद्य वृद मंच के सामने बैठते हैं, दर्शक तीन तरफ से बैठते हैं। वाद्य वृंद के पीछे दर्शकों के बीच से पात्रों का मंच पर आना जाना होता है।

राम, लक्ष्मण, सीता, मुनि, शिव, और चंडी के अलावा सभी पात्रों ने मुखा (मुखौटा) पहनें। स्त्री पात्रों की भूमिका में पुरूष कलाकार ही मंच पर थे। मुखा (मुखौटो) चरित्रगत् तथा नाट्कीय भाव के अनुरूप बने थे। मुखौटे की बनावट तथा रंगो के समायोजन पर तिब्बती प्रभाव लक्षित होता है। घोड़ा नीम तथा छतवन की लकड़ी के बने मुखौटों का निर्माण स्वयं गेरगेरू सिंह ने किया है। चार पीढ़ियों से वे मुखौटे बना रहें हैं। इस क्षेत्र में मुखौटे बनाने वालों में अब वो अकेले ही जीवित हैं। उनके पूर्व उनके पिताजी जीवन सिंह मुखौटे बनाया करते थें। जिनसे गेरगेरू सिंह ने मुखौटा बनाना और राजधारी गान सीखा। नाट्क का रूप सज्जा दक्षिण भारतीय नाट्यरूपों से साम्य रखता है। प्रकाश व्यवस्था के

* अध्यक्ष, वि.वि. संगीत एवं नाट्य विभाग, ल.ना.मि.वि.वि., दरभंगा

** शोध छात्र : वि. वि. संगीत एवं नाट्य विभाग, ल. ना. मि. वि. वि., दरभंगा

नाम पर सिर्फ बिजली के सामान्य बल्ब और कोई ताम झाम नहीं।

चंडी और मनसा वंदना से प्रदर्शन आरंभ हुआ। खोल की गत पर थिरकते पात्रों का प्रवेश। मूल गायक ने घटना क्रम को गीतों के माध्यम से प्रस्तुत किया। अभिनय और प्रस्तुति शैलीबद्ध। गद्य संवाद हिन्दी मिश्रित स्थानीय बोली (राजवंशी) में।

रामकथा के प्रचलित रूपों का प्रदर्शन। कथा स्त्रोत कृतिवास रामायण। गेरगेरू सिंह ने बताया कि कृतिवास रामायण बंगाली में है और हमारे पूर्वजों ने राजधारी गान का प्रदर्शन हिन्दी में अनुवाद करके किया। सभी कलाकार अपने अपने संवाद पूर्वाभ्यास के दौरान याद करते हैं, जो कि मौखिक परंपरा में चली आ रही है। सीता हरण से रावण वध तक के प्रसंगों को अभिनीत किया गया। केवल एक नया प्रसंग देखने को मिला-रावण चंडी (शक्ति का स्थानीय रूप) का उपासक है और सीता हरण की अनुमति चंडी से माँगता है। चंडी अनुमति नहीं देती है। रावण सीता हरण करता है और मारा जाता है। लगभग 6 घंटे तक यह प्रदर्शन चला। गेरगेरू सिंह ने बताया कि पूरे रामायण के प्रसंग को करने में 12 से 13 घंटें लगते हैं। रासधारी के सभी कलाकार प्रायः राजवंशी समुदाय से हैं। असम, उत्तर बंगाल, पूर्वी नेपाल, बिहार तथा बांग्लादेश में इनकी आबादी है। बिहार में इनकी जनसंख्या लगभग तीन लाख बताई जाती हैं। 16वीं शताब्दी में विश्व सिंह ने इस अंचल में कोच की स्थापना की। कूच विहार विश्व सिंह की राजधानी थी। कई कबीलों को संगठित कर राजवंशी समूह बनाया। विश्व सिंह शाक्त थे तथा चंडी और मनसा की पूजा करते थे।

इस दल में 26-27 कलाकार हैं, जिसमें निष्णु सिंह आठवीं मे पढ़ता है, 4 वर्षों से राम की भूमिका करता है। रावण की भूमिका मे शैलेन्द्र झा। अन्य कलाकारों में मूल गायक बिन्दु लाल सिंह, जटायु (संत लाल सिंह), बालि (माणिक सिंह), शिव (खगेन सिंह), चंडी (किताब सिंह), हनुमान (अमूल्य सिंह), सीता (सुमेर सिंह), लक्ष्मण (राहुल सिंह), मुनि (मंगल और गणेश सिंह), मृग (लव सिंह), सर्वनाशा (गजेन सिंह), तथा अंगद (सबूलाल सिंह) ने अपनी भूमिका का निर्वहन किया। वाद्य वृंद में खोल पर (गजेन सिंह), मोहन सिंह, सुभानन्द सिंह, हरीलाल सिंह, ऋषिमोहन सिंह थे।

कुल मिलाकर इस नाट्य रूप पर शोध होना चाहिए। अभिनय, शैलीवद्ध प्रस्तुति, मंच व्यवस्था आदि की दृष्टि से यह भारतीय लोक नाट्यरूपों की एक महत्वपूर्ण कड़ी है।

नाटकों में समाजिक सरोकार और भीष्म साहनी

प्रो. पुष्पम नारायण*, मो. इरफान अहमद**

सामाजिक सरोकार एक ऐसा विषय है जो दो शब्दों से बना है।

समाज तथा सरोकार

समाज

समाज शब्द की उत्पति लैटिन भाषा के सोसाइटी शब्द से हुई है। जिसका अर्थ समाज, संगति, मंडल तथा संस्था है। समाज की असंख्य परिभाषाएं हैं। व्यापक अर्थ में समाज व्यक्तियों व्यवहारों, संबंधों रीति-रिवाजों, सिद्धांतों और नियमों के लिए एक सुदृढ़ अवस्था हैं।

सरोकार

सरोकार शब्द अंग्रजी के कंसर्न अथवा कंसलटेंट का अनुवाद है जिस का संबंध चिंता, दिलचस्पी, हस्तक्षेप आदि के अर्थ में ग्रहण किया जा सकता है। एक अन्य अर्थ के अनुसार सरोकार के अभिप्राय हैं वास्ता, परस्पर व्यवहार या संबंध इस प्रकार सामाजिक सरोकार का संक्षिप्त मतलब आधार भूत आश्चर्य यह हुआ कि जो भी कारक मानवीय सरोकारों जैसे कि मानव अर्थात व्यक्ति से संबंधित चिंता अथवा व्यक्ति की स्वयं की चिंता है। इसका द्वंद, अंतर्द्वंद या मानवता के आग्रह पर जो भी कुछ सोचा जाता है या किया जा सकता है जो समाज का मार्ग दर्शन और मनुष्य के विचारों को नई दिशा देता है सामाजिक सरोकार कहा जा सकता है।

नाटक में अभिव्यक्त व्यक्ति अथवा नाटककार के सामाजिक चेतना सामाजिक सरोकार से प्रेरित भी होती है। सामाजिक प्राणी होने की वजह से मनुष्य अपने लिए एक सुंदर समाज की रचना हेतु विचार करता है। उससे नाटक लेखन के क्रमिक विकास को बल मिलता है। समाज में मनुष्य के अकेलेपन से उत्पन्न उदासीनता तथा अवसाद को नाटक मनोरम तथा उत्साहित क्षणों में बदल सकता है। नाटककार अपना जीवन समाज में ही व्यतीत करता है, वही जीवन के अभावों से जूझता और भावों से आनंद प्राप्त करता है। सुख-दुख की परिस्थितियों में संघर्षरत रहता है। नाटक में जब ऐसे व्यक्ति की संवेदनाएं एक सामान्य दर्शक के सामने प्रस्तुत होती हैं तो दर्शक निश्चित रूप से इन संवेदनाओं और भावनाओं से अपने को जुड़ा पाता है और नाटक से समाज के इस संबंध तथा जुड़ाव को सामाजिक सरोकार के रूप में स्वीकारा जा सकता है।

भीष्म साहनी ने अपने नाटक माधवी, हानूश, मुआवजे, कबीरा खड़ा बाज़ार इत्यादि में सामाजिक सरोकार का उदाहरण प्रस्तुत किया है। जहां कबीरा खड़ा बाज़ार में यह बताया है कि यह नाटक एक ओर कबीर के समकालीन समाज और उस समाज में निर्भय, सत्यवचनी और अन्याय का सामना करने वाले कबीर के प्रखर व्यक्तित्व की पुनर्रचना करता है वहीं संवेदना, निरंकुश, तानाशाही सत्ता के रूप को दर्शाता है। हानूश नाटक के माध्यम से यह बताया कि इसकी कथावस्तु मध्ययुगीन है। लेकिन इसे आज के संदर्भ में भी देखा जा सकता है। इस नाटक में सांमतशाही की वेदी पर हानूश जैसे निरपराध

* अध्यक्ष, वि.वि. संगीत एवं नाट्य विभाग, ल.ना.मि.वि.वि., दरभंगा

**शोध छात्र, (नेट) : संगीत एवं नाट्य विभाग, ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय, दरभंगा

कलाकार के निष्पात बलिदान की कथा के माध्यम से समाज के प्रति अपने सरोकार को रखा हैं।

समाजिक सरोकार से जुड़े नाटक के कुछ प्रमुख सरोकारः-

मनुष्य और उसका परिवेश

नाटक समाज का दर्पण है। मनुष्य समाज की इकाई है। अतः मनुष्य और उसके परिवेश की घटनाओं का नाटक में प्रदर्शित होना स्वभाविक है। नाटक मनुष्य के परिवेश में व्याप्त परिस्थितियों को अनुकूल बनाने, दुख के क्षणों में सांत्वना देने पर सुख के पलों में खुशी को बढ़ाने का काम करके मनुष्य पर उसके परिवेश की अभिव्यक्ति का ना केवल मजबूत आधार बनता है, बल्कि एक मनुष्य को नाटक से और मनुष्य के माध्यम से नाटक को समाज से जोड़ने का काम करताहै। भीष्म साहनी का नाटक मनुष्य और उसके परिवेश के चित्रण का एक सटीक उदाहरण कहा जा सकता है। ज्ञातव्य है कि इसके मूल में भी सामाजिक सरोकार है। हम कह सकते हैं इस समाज में सरोकार ना बचानेवाला मनुष्य नाटक से भी कभी सरोकार रखता नहीं मिलेगा जो मनुष्य नाटक से सरोकार रखता है, वह समाज से भी सरोकार रखता मिलेगा क्योंकि नाटक मनुष्य की आवश्यकता को पूरा करता है। जिसके तहत वह समाज के बारे में कुछ जानता और जानकर अपनी अभिव्यक्ति व्यक्त करना चाहता है। नाटककार हो या दर्शक दोनों ही सामाजिक परिवेश में जीवन जीते हैं, दोनों की अनुभूतियां लगभग एक जैसी होती हैं, अतः नाटक से दोनों का सरोकार बराबर का रहता है और उनका यह सरोकार समाज से जुड़ा होने के कारण एक प्रमुख सामाजिक सरोकार कहा जा सकता है।

नाटक और समाज

नाटक और समाज के बीच सनातन संबंध है। समाज के संपर्क और सहयोग से मनुष्य का मानसिक विकास होता है। सामाजिक संबंधों का ही मनुष्य अपनी अनुभूतियां, क्षमता और संवेदनशीलता से समृद्ध करता है। सामाजिक परिवेश में विकसित स्थिति, आत्म अनुभूतियों की अभिव्यक्ति से नाटक का रूप धारण करती हैं, यहीं कारण है प्रत्येक काल का श्रेष्ठ नाटक में उसकी समकालीन सरोकार प्रतिबंधित होती है।

नाटक और संस्कृति

नाटककार सामाजिक प्राणी होने के कारण वह अपने परिवेश के रीति-रिवाज, धर्म-कर्म, संस्कृति, मानवीय व्यवहार आदि से नाटक निर्माण की प्रेरणा ग्रहण करता है। नाटक और समाज का अन्योनयाश्रय संबंध होने की वजह से यह समाज की संस्कृति का संवाहक है, दूसरे शब्दों में कहे तो संस्कृति समाज का संवाहक नहीं बल्कि संरक्षक भी है। नाटक ही एक आम दर्शक को बता सकता है कि उसके अपने समाज के सामाजिक संस्कृति क्या थी और उसे अब किस रूप में परोसा जा रहा हैं। अतः नाटक मानवीय मूल्यों की रक्षा करता है और संस्कारों को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक हस्तांतरित करता है। यह सब नाटक के सामाजिक सरोकार से संभव हो पाता है।

सामाजिक सरोकार के विभिन्न आयाम और समसामयिक विषय

सामाजिक जागरण का कार्य मुख्य रूप से उन नाटककारों द्वारा संपन्न होता है जो स्वयं सामाजिक सरोकार से संपन्न होते हैं। समाज में विपरीत परिस्थितियों में कुछ ऐसी प्रतिभाएं सामने आती हैं, जिन्हें यह आभास होता है कि ऐसी परिस्थितियां व्यक्ति और समाज के विकास में बाधक है। समाज के विपरीत परिस्थितियों जैसे व्यवस्था भ्रष्टाचार, सामाजिक भेदभाव, लिंगभेद, जातिवाद इत्यादि से निपटने के लिए व्यक्ति अथवा समाज नाटक का सहारा लेता है। अतः इसी शक्ति के सहारे नाटककार व्यवस्था का विरोध करता है, जो मानवीय मूल्यों भावनाओं को ठेस पहुंचाती है, नाटककार एक व्यक्तिगत तौर पर भी विपरीत परिस्थितियों का सामना करता है और समाज को भी प्रेरित करता है कि ऐसी स्थिति में व्यक्ति और वर्ग भेद को बुलाकर सिर्फ समाज की अवस्था के रूप में व्यक्ति के हित को ध्यान में रखता है और अपने दायित्व एवं कार्यों का निवर्हन करने का प्रयास करता है। भीष्म जी अपने नाटकों में समसामयिकता का हमेशा ध्यान रखा हैं। उन्होंने अपने नाटक माधवी में महाभारत

कालीन समाज और मनोवृत्तियों को दर्शाया है। उस समय माधवी जैसी दिव्य गुणों वाली राज पुत्री की यह हालत है तो समाज में नारी के लिए क्या स्थान हो सकता है। यह माधवी नाटक के माध्यम से भीष्म साहनी ने बताने की कोशिश की है।

निष्कर्ष

हम कह सकते हैं कि नाटककार के माध्यम से नाटक और समाज को जोड़ने वाला प्रत्येक कारक सामाजिक सरोकार का आधार है और जिस आधार पर नाटक का हर संबंध नाटक का सामाजिक सरोकार है जो समाज की इकाई व्यक्ति को विकासात्मक दिशा देने का प्रयास करता है। नाटक और समाज एक दूसरे के प्रति गहरा लगाव और विश्वास ही सबसे बड़ा सामाजिक सरोकार है।

संदर्भः-

1. शर्मा डॉ विजय सर्वेश्वरदयाल सक्सेना का काव्य, मानवीय सरोकार के दर्पण में पृष्ठ 9
2. कौशिक डॉ जय नारायण, हरियाणवी-हिंदी शब्दकोष पृष्ठ 808
3. सक्सेना श्राजेश्वर, ठाकुर प्रताप : भीष्म साहनी व्यक्ति और रचना पृष्ठ-12
4. डॉ. के. अजिता, नाटककारः भीष्म साहनी, पृ.-101
5. सागर तरसेम, भीष्म साहनी की नाटक कला।

संगीत के क्षेत्र में जीविकोपार्जन की संभावनाएं

डॉ. श्रुति होड़ा

स्वरों की वह रचना जो प्राणी मात्र को प्रसन्नता प्रदान करे, संगीत कहलाती है। संगीत चाहे शास्त्रीय हो, लोक संगीत हो, सुर संगीत हो, या फिर वाद्यवृन्द या फिर पाश्चात्य संगीत के रूप में हो, वह किसी भी व्यक्ति विशेष का मनोरंजन करने की क्षमता रखता ही है। संगीत कला के द्वारा जैसे भावों की अभिव्यक्ति हो सकती है वह अन्य किसी साधन के द्वारा संभव नहीं है। इसके अतिरिक्त जड, चेतन, पशु- पक्षी सभी इससे प्रभावित होते हैं। संसार का प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन में किसी न किसी मोड पर संगीत कला से आवश्यक प्रभावित होता है। विश्व के कण-कण में संगीत परमात्मना के अंग की तरह व्याप्त है। संगीत की इस प्रभावित करने की शक्ति का प्रयोग अनेकों दिशाओं में किया गया है व अनेकों प्रकार से किया जा सकता है। अवसर चाहे दुख का हो या खुशी का, शास्त्रीय संगीत, सुगम संगीत व लोक संगीत सभी जगह पर वातावरण को अवसर के अनुकूल सहायक सिद्ध होते हैं।

प्राचीन समय से आज तक संगीत हमारे आध्यात्मिक व भावनात्मक जीवन का अनिवार्य अंग रहा है। हमारी कलात्मक अनुभूतियों को भी इस कला से बहुत प्रोत्साहन मिला है। संगीत मानवीय अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम रहा है। संगीत एक ऐसी कला है जो जीवन में समायोजन तथा आत्मिक सुखानुभूति का साधन बनती है। आज के भौतिकवादी युग में मन की शांति और संपूर्ण व्यक्तिगत विकास के लिए संगीत शिक्षा को अभिन्न अंग बनाना अति आवश्यक हो गया है।

भारत के पूर्व राष्ट्रपति स्व. राजेन्द्र प्रसाद के शब्दों में इसका वर्णन इस प्रकार हुआ है कि मानव जीवन में संगीत का क्या स्थान है। उनके शब्दों में :-

''जीवन में संगीत का क्या स्थान है और क्या होना चाहिए?

इसके विषय में कुछ कहना आवश्यक है, मेरा यह निश्चित मत है कि भौतिक और आध्यात्मिक दोनों ही दृष्टियों में संगीत मनुष्य के लिए साधना का विषय है। भौतिक जीवन में संगीत मनोरंजन एवं रोज़गार का उतना ही बडा साधन है जितना कि वह आध्यात्मिक जीवन में प्रेर णा का स्त्रोत है।"

संगीत शिक्षा का कार्य केवल विषय का ज्ञान प्राप्त करना ही नहीं अपितु व्यक्ति के सम्य शिष्ट और इस योग्य भी बनाना है कि वह अपने पैरों पर खडा हो सके या रोजगार भी प्राप्त कर सके। आज के भौतिकवादी और वैज्ञानिक युग में यदि हमारी संगीत शिक्षा यह कार्य नहीं कर सकती तो इसे व्यर्थ समझा जाता है। आज यही सवाल हमारी वर्तमान संगीत शिक्षा पर उठ रहा है। क्या हमारी वर्तमान संगीत शिक्षा आज के संगीत विद्यार्थियों को रोजगार प्रदान कर रही है? यह एक चिंतनीय विषय है।

यदि ध्यान से देखा जाए तो हमारा संगीत पाठ्यक्रम में इन चीजों का अभाव है। हमारा संगीत का पाठ्यक्रम आज के भौतिक युग में दिशाहीन व अधूरा प्रतीत होता है। इसी कारण संगीत विषय हमारी शिक्षा पद्धति एवं रोज़गार के क्षेत्र में अपना

एसोसिएट प्रोफेसर, वाद्यविभाग, पी.जी.जी.सी.जी. सेक्टर II, चण्डीगढ़

उचित स्थान नहीं बना पाया है जितना कि अन्य विषय। आज ऐसे ही विषयों को महत्वपूर्ण माना जा रहा है जो रोजगार में अधिक सहायक हो सकें। हम संगीत के पाठ्यक्रम समझ सकें साथ परिवर्तन न आने के कारण संगीत के विद्यार्थियों को निराशा का सामना करना पड रहा है। हमारे संगीत का पाठ्यक्रम केवल शास्त्रीय संगीत तक सीमित होने के कारण इसमें रोजगार की संभावनाएं थोड़ी कम हो गई हैं। संगीत का अभिप्राय केवल शास्त्रीय संगीत से ही नहीं है अपितु इसमें लोक संगीत, सुगम संगीत, चित्रपट संगीत गायन, वादन एवं नृत्य सभी विषयों का समावेश है और रही संगीत शिक्षा की बात तो उसमें सिर्फ शास्त्रीय संगीत विषय के रूप में पढाने या सिखाने से रोजगार के अवसरों का अभाव है। अतः संगीत को रोजगारपरक बनाने के लिए इसके पाठ्यक्रम में कुछे-एक बदलाव आवश्यक हैं। आज का संगीत विद्यार्थी संगीत की शिक्षा प्राप्त कर संगीत शिक्षा के क्षेत्र को ही अपने रोजगार का साधन मानते हैं। किसी भी विद्यार्थी का मस्तिष्क एवं संवर्द्धन तभी संभव होता है जब उसका शिक्षण होता रहे। भारतीय संस्कृति में शिक्षक स्थान भगवान से ऊंचा माना जाता हैं इस विषय में कबीर जी का मत है कि :-

गुरू गोबिन्द दोनों खडे, काकै लागूं पाय
बलिहारी गुरू अपने, जिन गोबिन्द दियो मिलाय।।

वर्तमान समय में विद्यार्थियों, शिक्षण संस्थाओं, विश्वविद्यालयों आदि में अनेक शिक्षक कार्यरत हैं और पूरी तरह से संगीत शिक्षण की सेवा में लीन होकर जीविकोपार्जन कर रहे हैं। इसके अतिरिक्त व्यक्तिगत शिक्षण अर्थात अन्य विषयों के संगीत के क्षेत्र में देखने को मिलता है।

हमारे समाज में संगीत के शिक्षण संबंधी व्यवसायिक भावनाएं अन्य सामाजिक व्यवस्थाओं में अधिक पाई गई हैं।

मंच प्रदर्शन - संगीत के क्षेत्र में मंच प्रदर्शन का व्यवसाय अत्यन्त महत्वपूर्ण व्यवसाय है। भारतीय संगीत में घराना परंपरा में प्रशिक्षण का मुख्य उद्देश्य मंच प्रदर्शन ही रहा है। समय-समय पर संगीत का अपनी प्रतिभा-कौशल आदि का परिचय जनसाधारण को प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप से देते रहे हैं। जनता के सम्मुख प्रत्यक्ष रूप से उठकर कला प्रदर्शन करना प्रत्यक्ष मंच प्रदर्शन है। प्रत्यक्ष मंच प्रदर्शन एक प्रकार से देखने को मिलता है। प्रथम व्यक्तिगत व द्वित्तीय परियोजकों से व्यक्तिगत रूप से मंच प्रदर्शन शास्त्रीय संगीत में तो कम पाया जाता है परन्तु सुगम संगीत क्षेत्र में व्यक्तिगत मंच प्रदर्शन कुछ सीमा तक सफल प्रतीत होता है। अनेकों सामाजिक, धार्मिक व सांस्कृति समारोहों आदि पर ग़ज़ल, भजन आदि के गायक, वाद्य-वादक अपनी कला-कौशल का प्रदर्शन सभी मंडपों व अन्य स्थानों पर करते हैं। धार्मिक स्थलों पर धार्मिक भावना से भजन कीर्तन करने वाले नियुक्त गायकों, वादकों के लिए भी जीविकोपार्जन हेतु कुछ धन-राशि अवश्य निर्दिष्ट होती है। प्रयोजक संस्थाओं के माध्यम से हमारा शास्त्रीय संगीत वर्तमान समय में विद्यमान है। प्रयोजक का अर्थ है, मिलाने वाला, परन्तु व्यवहार में किसी कार्य हेतु जो प्रबंधकीय व आर्थिक भार वहन करता है इस प्रयोजक संस्थाओं में स्पिक मैके सोसाईटी फॉर प्रोमोशन ऑफ इंडियन क्लासीकल म्यूज़िक एंड कल्चर अमंग्स यूथ, संगीत नाटक अकादमी, साहित्य कला परिचय परिषद आदि का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इस प्रायोजकों के माध्यम से अनेक संगीतकार अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर भी अपनी कला का प्रदर्शन करते हैं। विभिन्न संस्थाओं द्वारा संगीत, भावगीत, भाव संगीत आदि के कार्यक्रम भी आयोजित होते रहते हैं।

अप्रत्यक्ष मंच प्रदर्शन जनता के सम्मुख बैठकर विभिन्न प्रसार साधनों द्वारा प्रस्तुत किया जाए, वह अप्रत्यक्ष मंच प्रदर्शन माना जाता है। आकाशवाणी, ऑडियो-विडियो केसेट्स, सी.डी., इन्टरनेट आदि इसी के अन्तर्गत आते हैं।

शास्त्रीय संगीत एवं संगीतकारों को प्रोत्साहन देने में आकाशवाणी का योगदान उल्लेखनीय है। राष्ट्रीय दूरदर्शन व व्यक्तिगत प्रदर्शन केन्द्रों पर भी संगीतकारों को मंच व पारितोषिक प्रदान किया जाता है। इसके अतिरिक्त एलबम, ऑडिया-विडियो, सी.डी., केसेट्स आदि से भी व्यक्तिगत रूप में इनके निर्माताओं द्वारा संगीतकार मंच व पारितोषिक प्राप्त करते हैं।

पार्श्व संगीत - पार्श्व से अभिप्राय है जो समक्ष न हो। पार्श्व संगीत की रंगभूमि अर्थात मंच पर न होकर आवरण में रहकर मंच कार्यक्रम की सहायता हेतु गायन-वंदना करते हैं। जैसे फिल्मी संगीत, दूरदर्शन पर प्रसारित होने वाले विभिन्न कार्यक्रमों आदि में पार्श्व संगीत व्यवसायों का प्रोत्साहित किया है। उपरोक्त के अतिरिक्त विभिन्न लोक नाट्यों तथा कठ्पुतली आदि के प्रदर्शन में भी पार्श्व संगीत एवं संगीतकार महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं तथा अथोर्पार्जन करते हैं।

नाटकों में संगीत - वर्तमान समय में नाटक का प्रचलन अति अल्प है। परन्तु अनेक संयोजक संस्थाएं नाटक विद्या का संरक्षण कर रही हैं। नाटकों में पार्श्व व प्रत्यक्ष दोनों तरह के संगीत का प्रयोग होता है। लोक नाटक विधाएं जैसे नौटंकी, स्वांग और धार्मिक नाटक जैसे रामलीला, कृष्णलीला आदि भी गायकों व वादकों की आय का साधन हो सकता है।

संगीतकार - विभिन्न अवसरों के अनुरूप छन्द व लय के लिखे गीत ही समारोहों के सांगीतिक कार्यक्रमों को सार्थकता प्रदान करते हैं। प्राचीन काल में चरण, भाट आदि आश्रयदाता की प्रशंसा में तथा भक्ति की भावना जगाने हेतु लिखा करते थे। वर्तमान समय में गीतकार फिल्मों, दूरदर्शन, धारावाहिक, धार्मिक, राष्ट्रीय सांस्कृतिक समारोहों व व्यक्तिगत रूप से अनेक विचारों के प्रचार-प्रसार हेतु गीतों की रचना द्वारा धन अर्जित करते हैं।

धुनकार - सभी प्रकार के गीतों हेतु व वाद्य-वादन हेतु स्थिति के अनुरूप धुने बनाकर धुनकार अपनी कला का परिचय भी देते हैं व जीविकोपार्जन प्राप्त करते हैं।

संगीत निर्देशक-संगीत धुन व संगीत निर्देशन के मुख्य क्षेत्र नाटक, नाट्य, नृत्य नाट्य, वृन्दवादन, दूरदर्शन चित्रपट, आकाशवाणी आदि क्षेत्रों में गीतकार, धुनकार, संगीत निर्देशक अपनी कला-कौशल का प्रदर्शन कर धनोपार्जित करते हैं।

रूप सज्जाकार - गायन, वादन तथा नृत्य आदि के मंच, दूरदर्शन, एलबम, विडियो केसेट, वी.सी. डी., आदि पर प्रदर्शन हेतु किस प्रकार की सज्जा करनी है तथा कलाकारों की पोशाक व वेशभूषा तथा उनका रंग, डिज़ाईन आदि का निर्णय सज्जाकार लेता है।

वाद्य निर्माता - वाद्यों के बिना सांगीतिक कार्यक्रमों की कल्पना भी नहीं की जा सकती। असंख्य वाद्य निर्माता सांगीतिक वाद्यों के निर्माण द्वारा अपना जीविकोपार्जन कर रहे हैं। आधुनिक समय में इलैक्ट्रोनिक वाद्य जैसे इलैक्ट्रोनिक तानपुरा, तबला आदि का प्रचलन हो गया है। इसके अतिरिक्त सिन्थेसाइजर, इलैक्ट्रोनिक ड्रम आदि विदेशी वाद्य यन्त्र भी विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनके प्रचार से इनके निर्माताओं व वितरकों को भी अच्छी आय के साधन भी उपलब्ध हुए हैं।

कैसेट, सी.डी., एलबम आदि के निर्माता- वर्तमान समय में केसैट, सी.डी., एलबम आदि के प्रचलन से इन गायकों-वादकों, निर्देशकों के अतिरिक्त धनोपार्जन इनके निर्माता भी करते हैं।

संगीत शास्त्रकार, अनुवादक, प्रकाशक व वितरक-संगीत शास्त्र का संगीत कला के क्षेत्र में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। परन्तु संगीत द्वारा धनोपार्जन में इनकी गणना अंतिम कडियों में ही होती है। भारतीय संगीत भरतमुनि, मंगतमुनि, शारंगदेव, अहोबल आदि अनेक ऐसे संगीत शास्त्रियों के नाम उल्लेखीय हैं जिनकी विद्वता के कारण आज हमारे देश का संगीत विश्व में ख्याति प्राप्त है। आज के समय में संगीत शास्त्री अपने ग्रथों के प्रकाशन से अच्छा धन कमा रहे हैं। अनुवादक, प्रकाशक केन्द्र व वितरक भी संगीत कला की सेवा में प्रस्तुत रूप से सहयोग देकर धन कमा रहे हैं व कमा सकते हैं।

संगीत पत्रकार, समीक्षक व संपादक- कोई भी संगीतकार अपनी कला-कौशल के प्रदर्शन के पश्चात् जन-साधारण की प्रतिक्रिया अवश्य जानना चाहता है। इसके अतिरिक्त यदि कलाकारों के आलोचक भी हों तो उन्हें त्रृटियों का आभास भी हो जाता है। इन सब कार्यों की निष्पति एक कलाकार ही कर सकता है। स्थान-स्थान पर हो रहे कार्यक्रमों का अवलोकन करके उनकी आलोचनात्मक व्याख्या विभिन्न समाचारों, साप्ताहिक, पाक्षिक, मासिक, वार्षिक पत्रिकाओं में करते हैं। ये पत्रकार समीक्षक, आलोचक व संपादक आदि अर्थोपार्जन के साथ-साथ जन-साधारण के विरूद्ध आदि कोई हो रहा हो तो

उस पर तुरंत अंकुश लगाने का कार्य भी कर सकते हैं।

संगीत चिकित्सा - संगीत की आरोग्यदायिनी शक्ति के बारे में आज प्रायः सभी लोग परिचित हैं। विभिन्न रोगों में संगीत द्वारा विभिन्न चमत्कार देखे जाते हैं। संगीत तथा योग के अष्टांग का संबंध सर्वविदित है। मानव ही नहीं पशु-पक्षी व पेड-पौधों पर भी संगीत का प्रभाव होता है। आज की व्यवस्था व तनाव भरी जिंदगी में संगीत द्वारा मनुष्य शांति व मनोरंजन प्राप्त कर सकता है। आज के समय में संगीत चिकित्सा भी व्यवसाय के रूप में अपनाई जा सकती है। संगीत चिकित्सा के व्यवसाय के 30वें दशक में बताते हुए भगवत शरण शर्मा करते थे। उनकी दुकान का नाम "म्यूजिकल मेडिकल इंस्टीट्यूट"।

सेना एवं पुलिस विभाग एवं अनेक सरकारी विभागों में भर्ती- आज वायु सेना, थल सेना, जल सेना एवं पुलिस विभाग में संगीत, गायकों- वादकों की भर्ती सीधी होती है तथा इन विभागों का अपना बैंड भी होता है। इसके अलावा अन्य सरकारी विभागों, रेलवे, बैंक इत्यादि में भी संगीतज्ञों को सांस्कृतिक कोटे के अंतर्गत रोजगार की प्राप्ति होती है।

उपसंहार - उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और समाज की मर्यादाओं का पालन करने हेतु व समाज की धारणाओं में होते रहने के लिए व अन्य सामाजिक जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु मनुष्य को कोई न कोई व्यवसाय अवश्य अपनाना पडता है। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु संगीत एक पूर्ण साधना है। यदि हम उपर्युक्त सभी पहलुओं पर गौर करके इन्हें प्रयोग में लाएं तो इससे हमारे संगीत का स्तर भी ऊंचा उठ सकता है एवं इससे संगीत के क्षेत्र में रोजगार के अवसरो को भी बढावा मिल सकता है। संगीत शिक्षा आने वाले समय में अन्य विषयों की तरह रोजगार के अवसर सभी छात्र-छात्राओं को प्रदान करें, जिससे उनका भविष्य उज्जवल हो। अंत में यह कहने में अतियुक्ति नहीं होगी। उचित संगीत - शिक्षण द्वारा संगीत में रोजगार समस्या हल हो जाने पर भी संगीत का बहुमुखी विकास संभव हो सकेगा।

+2 तक अध्यापन विद्यालय में संगीत शिक्षा की स्थिति

प्रो. पुष्पम नारायण*, निधी कुमारी**

शोध सारांशः

+2 तक अध्यापनरत विद्यालय व इंटर महाविद्यालय में संगीत शिक्षा की जो वर्तमान स्थिति है वह संतोषप्रद नहीं कहा जा सकता। संगीत की शिक्षा दो स्वरूपों में दी जाती है- प्रथम सैद्धान्तिक तथा दूसरा प्रायोगिक। +2 विद्यालय व इंटर महाविद्यालय में जहाँ संगीत की पढ़ाई होती है, प्रायः वहाँ शिक्षकों का अभाव देखा जाता है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि संगीत के शिक्षकों की उपलब्धता कम ही है। साथ ही प्रायोगिक साधनों का सख्त अभाव सा है। आजकल प्रायोगिक परीक्षा के नाम पर खानापूर्ति ही की जाती है। 2014 का इंटर कला संकाय का बिहार टॉपर गणेश कुमार जिसे संगीत विषय में 83 अंक प्राप्त हुआ था, उसे सुर-ताल के संबंध में कुछ भी जानकारी नहीं थी। गायकी के क्षेत्र में बिहार में किसे पद्मश्री पुरस्कार मिला था, इसकी भी जानकारी नहीं थी। कहने का तात्पर्य यह है कि संगीत विषय का चयन छात्र-छात्रा इसलिए करते हैं ताकि उन्हें प्रायोगिक परीक्षा में मनमाफिक अंक मिल सके। आजकल विद्यालयों व महाविद्यालयों में प्रायोगिक कक्षाएँ होती ही नहीं है। प्रायोगिक उपकरणों (वाद्य यंत्रों) की भी जानकारी नहीं मिल पाती है। नई शिक्षा नीति जीवन-मूल्यों के विकास पर अत्यधिक बल देती है। इन उद्देश्यों की पूर्ति संगीत के माध्यम से सशक्त रूप से संभव है। जहाँ सरकार गुणवत्तापूर्ण शिक्षा प्रदान करने हेतु ढिंढोरा पीट रही है, तदनुरूप संगीत शिक्षकों, संगीत साधनों आदि पर भी ध्यान देनी चाहिए। संगीत की कक्षा में सीमित छात्र-छात्राएँ की संख्या होनी चाहिए। साथ ही निरन्तर कक्षाएँ होनी चाहिए। चूंकि संगीत शिक्षा में नियमितता एक आवश्यक शर्त है, जो यहाँ कभी पूरी नहीं हो पाती, और इस अनियमितता से संगीत शिक्षा दुष्प्रभावित होती है।

मुख्य शब्द : संतोषप्रद, सैद्धान्तिक, प्रायोगिक-उपकरण, सुर-ताल, मनमाफिक, गुणवत्तापूर्ण, वाद्ययंत्र

भारतीय संस्कृति विश्व की उन संस्कृतियों में से एक है जिसने सम्पूर्ण विश्व को नई शिक्षा एवं सृजनात्मकता दी। संगीत शिक्षा ये वो धरोहर है जिसको सुरक्षित रखने के लिए हमारे संगीत प्रेमियों ने अपने सम्पूर्ण जीवन की आहूति दी। संगीत मानव समाज की एक कलात्मक उपलब्धि है। यह लयकारी सांस्कृतिक परम्पराओं का एक मूर्तिमान प्रतीक है और भावना की उत्कृष्ट कृति है। अमूर्त भावनाओं को मूर्तरूप देने का माध्यम ही संगीत है एवं मूर्ति रूप होने के कारण संगीत लोकरूचि के अनुरूप जन-जन में सर्वत्र विद्यमान है। इतिहास साक्षी है कि सामाजिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों का कला पर बहुत प्रभाव पड़ता है। कला आश्रय चाहती है फलने-फूलने के लिए उसे स्वस्थ वातावरण एवं आश्रय की आवश्यकता होती है। संगीत शिक्षण पद्धति के संबंध में अधिकतर स्थानों पर व्यक्तिगत शिक्षण पद्धति जिसे गुरू-शिष्य, परम्परा कहा जाता है का ही उल्लेख मिलता है। प्राचीन काल में संगीत के क्रियात्मक पक्ष पर अधिक बल दिया जाता था। बौद्धिक विवेचन की आवश्यकता को उन्होंने महत्व नहीं दिया परन्तु क्रियात्मक पक्ष के कायदे, मूल

* अध्यक्ष, वि.वि. संगीत एवं नाट्य विभाग, ल.ना.मि.वि.वि., दरभंगा

**शोध-प्रज्ञा, संगीत विभाग, ल. ना. मिथिला विश्वविद्यालय, दरभंगा

सिद्धांतों का उन्होंने उल्लंघन नहीं किया। मध्यकाल में ही संगीत शिक्षा का स्वरूप क्या रहा इसका अनुमान जहाँ-तहाँ बिखरे हुए सांगीतिक उल्लेख जो मिले हैं उससे सिद्ध हुआ है कि उस समय भी सभी को राजाश्रय प्राप्त था एवं शिक्षण पद्धति गुरू-शिष्य परम्परा के अन्तर्गत थी।[1]

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् देश में संगीत की व्यापक प्रगति हुई तथा संगीत के शास्त्रीय एवं व्यावहारिक दोनों पक्षों में उच्च शिक्षा प्राप्त करने के द्वार खुले। विद्यालय, महाविद्यालयों तथा विश्वविद्यालयों में संगीत को समुचित महत्व तथा स्थान मिला एवं संगीत को केवल एक ललित कला ही नहीं अपितु विषय के रूप में मान्यता प्राप्त हुई। वर्तमान में अन्य विषयों की भांति संगीत का भी सामूहिक शिक्षण दिया जा रहा है। सामूहिक शिक्षण की क्रमबद्धता में शिक्षण विधियों का अपना महत्व है। इन विधियों के द्वारा विद्यार्थी के सीखे हुए नये तथा पुराने ज्ञान-अनुभवों एवं क्रियाओं को व्यवस्थित किया जाता है। शिक्षक एक ऐसी व्यवस्था का निर्माण करता है जिससे विद्यार्थी लाभान्वित हो सके। विद्यालयीन संगीत को भिन्न-भिन्न शिक्षण विधियों द्वारा सफल बनाने के प्रयास किये जा रहे हैं। सामूहिक शिक्षण बदलती हुई परिस्थितियों के अनुरूप ही हो रहा है। संगीत शिक्षण के दो महत्वपूर्ण पक्ष है- सैद्धांतिक पक्ष एवं क्रियात्मक पक्ष। कुछ ऐसी विधियाँ हैं जो केवल संगीत के सैद्धान्तिक पक्ष के शिक्षण में खरी उतरी है एवं कुछ क्रियात्मक पक्ष के शिक्षण में। कुछ ऐसी विधियाँ भी हैं जो संगीत के दोनों ही पक्षों के शिक्षण में प्रयोग में लायी जाती है उनमें से है :

1. भाषा विधि- इसमें शिक्षक किसी विषय पर विद्यार्थियों के समक्ष बोलता है विद्यार्थी उसे अपनी सूझ-बूझ से ध्यान में लेते हैं।
2. गवेषणात्मक विधि- इसके द्वारा विद्यार्थी की आंतरिक प्रतिभा को उभारने एवं उसे स्वयं खोजने की दिशा में प्रेरित किया जाता है।
3. प्रदर्शन अनुकरण विधि- कलात्मक परिपक्वता के दृष्टिकोण से यह अत्यन्त ही महत्वपूर्ण विधि है।
4. भाषण एवं प्रदर्शन विधि- संगीत के दोनों पक्षों के शिक्षण के लिए यह विधि अत्यन्त उपयुक्त एवं एक दूसरे के पूरक हैं।
5. परिसंवाद तथा संगीत गोष्ठियों द्वारा संगीत शिक्षण- संगीत शिक्षण के क्षेत्र को विस्तृत करने तथा विभिन्न समस्याओं के समाधान के लिए परिसंवादों और गोष्ठियों का अपना महत्व है इसके अतिरिक्त परियोजना विधि एवं कार्यशाला विधि को भी प्रयोग में लाया जा रहा है।

वर्तमान समय में संगीत के क्षेत्र में उच्च शिक्षा का सबसे नकारात्मक बिन्दु यह है कि यह रोजगार परक नहीं है एवं पाठ्यक्रमों में नवीन बदलाव की आवश्यकता पर अधिक ध्यान देनी जरूरी है। उच्च शिक्षा प्राप्त अधिकांश विद्यार्थियों के पास संगीत शिक्षण के अतिरिक्त और कोई मार्ग भी नहीं है वरन् अन्य तथ्य भी महत्वपूर्ण होते हैं वे दृष्टिगोचर नहीं होते। इसका प्रमुख कारण शिक्षण प्रणाली में कल्पना शक्ति रचनात्मक क्षमता व मौलिकता का विकास नहीं किया जाता। शिक्षा का स्तर पाठ्यक्रम में निहित रागों की संख्या या विषय सामग्री की बहुलता से नहीं आंका जाना चाहिए। अध्ययन व्यापक व वृहत न होकर गहन व तथ्यपरक है तो संभवतः इस समस्या का हल निकालने में काफी हद तक मदद मिलेगी। 11 वीं व 12 वीं में संगीत की जो किताबें प्रचलित हैं वे बहुधा स्तरहीन है।[2]

आज संगीत का अर्थ केवल गाना बजाना ही नहीं रह गया है। संगीत के अन्य पक्षों में भी काफी संभावनाएँ हैं जिनका उच्च स्तर पर प्रशिक्षण देकर विद्यार्थियों को उनमें निपुण बनाया जा सकता है जैसे संगीत संबंधी लेखन में पर्याप्त अवसर उपलब्ध हैं। उच्च स्तर के ऐसे पाठ्यक्रमों के प्रारूप बनाये जाना चाहिए जो विद्यार्थियों में लेखन क्षमता, विश्लेषणात्मक दृष्टिकोण तथा रचनात्मकता का विकास करने में सहायक हो। वर्तमान युग विज्ञान का युग है। संगीत का भी वैज्ञानिक पक्ष है जो उच्च शिक्षा के क्षेत्र में काफी संभावनाएँ पैदा करता है। संगीत के स्वरों में निहित ऊर्जा मनुष्य, जीव जन्तुओं व वनस्पतियों को कैसे व कितना प्रभावित करती है। सांगीतिक स्वरों द्वारा किस प्रकार विभिन्न रोगों

का उपचार संभव है, स्वरोपचार द्वारा किस प्रकार तनाव, थकान, निराशा, कुण्ठा व अनिद्रा जैसे मानसिक रोगों पर विजय प्राप्त की जा सकती है। से सब विषय स्वयं में अध्ययन की अनंत संभावनाओं को समेटे हैं जिनको संगीत की शिक्षा का अंग बनाया जाना चाहिए। हमारे देश की सांस्कृतिक परम्परा भी अत्यन्त समृद्ध है। प्रदेशों के अलावा क्षेत्रों में भी अलग-अलग प्रकार का संगीत प्रचलित है। विभिन्न प्रदेशों में लोकगीतों, वाद्यों तथा नृत्यों आदि का अध्ययन इतना विशाल क्षेत्र है कि एक पृथक व स्वतंत्र विषय के रूप में भी मान्यता प्राप्त कर सकता है।

भारत सरकार की नई शिक्षा नीति 1986 के पीछे जो सजग नीति काम कर रही है वह चाहती है कि छात्र की अभिव्यक्ति सशक्त हो, छात्रों में शिक्षा स्तर एवं ग्रहण सामर्थ्य का आधार मजबूत हो तथा जीवन सत्य के निकट हो। नई शिक्षा नीति जीवन-मूल्यों के विकास पर अत्यधिक बल देती है। इन उद्देश्यों की पूर्ति संगीत के माध्यम से सशक्त रूप से संभव है। यही कारण है कि भारत सरकार की राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 के अन्तर्गत संगीत के व्यापक स्वरूप को धार्मिक, सांस्कृतिक तथा राष्ट्रीय चारित्रिक गुणों का विकास संगीत के विभिन्न माध्यमों द्वारा हो सके तथा संगीत व मनोविज्ञान में जो घनिष्ठ संबंध है उनका सर्वांगीण मनोवैज्ञानिक विकास हो सके।

आज हम जीवन के हर क्षेत्र में गिरावट तथा गिरता स्तर अनुभव करते हैं। उसकी वजह से सभी क्षेत्रों में गिरावट का अनुभव होता है, +2 विद्यालय, महाविद्यालय व विश्वविद्यालय भी इससे अछूते नहीं रह सकते। अन्य विभागों की तरह संगीत के विभागों में सुविधाओं के बाद भी गुणात्मक स्तर की संख्या का अधिकता। चूंकि दसवीं व इंटर कक्षाओं में संगीत एक ऐच्छिक विषय के रूप में छात्र-छात्राओं का बहुत प्रिय विषय रहा है। संगीत की कक्षाओं में तीस-चालीस छात्र-छात्राओं की भर्ती की जाती है। इतने बड़े समुदाय को क्रियात्मक संगीत की शिक्षा देना तथा संगीत की सूक्ष्मताओं को समझना बहुत ही कठिन हो जाता है। कुछ विभागों में छात्र की सांगीतिक अभिरूचि या उसकी क्षमता का आना बिल्कुल भी नहीं किया जाता, खुली भर्ती कर ली जाती है। कई बार छात्र-छात्रा अन्य कोई विषय पढ़ने में अक्षम होने पर संगीत संकाय में भेज दिए जाते हैं। ऐसे बुद्धि वाले तथा सांगीतिक प्रतिभाहीन छात्रों को संगीत सिखाने में बहुत कठिनाई होती है।

दूसरी विकट समस्या संगीत साधनों की है। कोई-कोई नव स्थापित विभागों में वाद्य यंत्रों का अभाव, शिक्षकों का अभाव तबला एवं सारंगी संगतकारों का अभाव, पुस्तकालय का अभाव तथा अच्छे ओडियो लाइब्रेरी तथा टेपरिकार्ड आधुनिक संसाधनों का अभाव होता है। संगीत के दो आधार स्तम्भ हैं- स्वर और लय। विडम्बना यह है कि लय से संबंधित ताल के प्रमुख साधन तबला अवनद्ध वाद्यों में सबसे लोकप्रिय ताल वाद्य है। तबला का इतिहास हमारे लिए अत्यंत गौरवपूर्ण रहा है। अनेक मूर्धन्य तबला वादक इस देश में फैले हुए हैं लेकिन +2 विद्यालय व इंटर महाविद्यालय तो क्या विश्वविद्यालयों में नहीं खुलने के कारण तबला विषय में विद्यार्थी वंचित रह जाते हैं। यदि संगीत विभाग खोलना या चलाना हो तो न्यूनतम की आवश्यकताओं को पूरा करना ही होगा, यह प्रावधान बन जाना चाहिए। संगीत शिक्षा के गिरते स्तर के लिए एक प्रमुख कारण साल में काम के दिन बहुत कम होना है। दो वेकैशन, बावन रविवार, प्रत्येक सम्प्रदाय के त्यौहार, राष्ट्रीय पर्व, नेताओं के जन्म-मृत्यु दिन, सांप्रदायिक तनाव, चक्का जाम, हड़ताले, धरना, बंद, छात्र संघ, शिक्षक संघ के चुनाव आदि-आदि कारणों से वर्ष 125-250 ही काम के दिन रह जाते हैं। उसमें कभी शिक्षक छुट्टी पर। संगीत शिक्षा में नियमितता एक आवश्यक शर्त है, जो यहाँ कभी पूरी नहीं हो पाती और इस अनियमितता से संगीत शिक्षा दुष्प्रभावित होती है।[3]

आज बड़े-बड़े विद्यालयों, महाविद्यालयों, विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम में संगीत की शिक्षा वैकल्पिक रूप से निर्धारित कर दी गई है। परिणामस्वरूप अब अधिक से अधिक छात्र-छात्राओं को संगीत की शिक्षा ग्रहण करने में सुविधा हो गयी है। इन योजनाओं के अतिरिक्त भारत में संगीत की उन्नति के लिए आकाशवाणी तथा दूरदर्शन भी सतत् प्रयत्नशील रहे हैं। देश के प्रायः प्रत्येक केन्द्र

से आकाशवाणी और दूरदर्शन द्वारा नियमित रूप से अनेक संगीत कार्यक्रमों का प्रसारण किया जाता है। इन कार्यक्रमों से कलाकारों और संगीत का बहुत उत्थान हुआ है। भारत सरकार द्वारा संगीतज्ञों के सम्मान में की जा रही कोशिशों में भी वृद्धि हुई है, जिसके अन्तर्गत पद्मश्री, पद्म भूषण, पद्म विभूषण एवं भारत रत्न दिया जाता है जो अत्यन्त सराहनीय कार्य है। शिक्षा में संगीत अपरिहार्य हो तो जीवनोपयोगी ही होगा, व्यक्ति की दृष्टि से भी, समाज की दृष्टि से भी। लगभग एक दशक पहले तक संगीत सीखना एक आम बात थी। पर इसको कैरियर के रूप में अपनाना दूसरी। इस परिप्रेक्ष्य में देखा जाए, तो एक सीधा सा कारण समझ में आता है कि जिन लोगों के पास कोई वैकल्पिक स्त्रोत नहीं था, उनके लिए संगीत से जीविकोपार्जन करना बहुत ही कठिन था और जीवन एक संघर्ष बन कर रह जाता था। लेकिन उपग्रह चैनलों, वीडियों और एलबम संस्कृति के आ जाने से पिछले कुछ वर्षो से इस क्षेत्र में आमूल-चूल परिवर्तन आ गया है आज संगीत से जिनका दूर का भी संबंध रहा है, उनका एक बाजार में एलबम अवश्य आ गया है।

बदलते सामाजिक सांस्कृतिक परिवेश में संगीत की नई संभावनाएँ सामने आयी हैं। जिस संगीत का जन्म मंत्रोच्चार के साथ वन-खण्ड स्थित महर्षि के आश्रमों में हुआ, वह मंदिरों, फिर राज-दरबारों, हवेलियों, रईस उमरावों के महलों से होते हुए मानव समाज के आधुनिकता में प्रवेश के साथ-साथ, शिक्षण प्रणाली के पाठ्यक्रम से ताल मिलाते हुए उन्नति को अग्रसर हुआ और वर्तमान समय में संगीत शिक्षण संस्थाओं तथा संगीत सम्मेलन के रूप में सामान्य समाज के बीच प्रतिष्ठित हो गया। पहले हमारे संगीतज्ञों को राजा के यहाँ राजाश्रय प्राप्त था और अब सरकार की तरफ से आश्रय प्राप्त है। दूसरे शब्दों में हम यूँ कह सकते हैं कि संगीत के विकास क्रम में उस काल की शिक्षा का काफी प्रभाव रहा है।

जहाँ तक बिहार के +2 तक अध्यापनरत विद्यालय व इंटर महाविद्यालय में संगीत शिक्षा की वर्तमान स्थिति की बात है वह संतोष जनक नहीं प्रतीत होता है। संगीत की शिक्षा दो स्वरूपों में दी जाती हैं- प्रथम सैद्धांतिक तथा दूसरा प्रायोगिक। +2 विद्यालय में संगीत की पढ़ाई कागजों में होती है। प्रायः +2 विद्यालयों में संगीत-शिक्षकों का अभाव देखा जाता है साथ ही प्रायोगिक उपकरणों का भी सख्त अभाव रहता है। आजकल प्रायोगिक परीक्षा के नाम पर खानापूर्ति ही की जाती है। छात्रों को सुर-ताल व धुन आदि का ज्ञान नहीं दिया जाता है। छात्र व छात्राओं को संगीत का गूढ़ ज्ञान नहीं मिल पाता है। इसका एक ज्वलंत दृष्टांत 2017 के कला संकाय का बिहार टॉपर (इंटरमीडिएट) गणेश कुमार का दिया जा सकता है। गणेश कुमार रामनन्दन सिंह जगदीप नारायण उच्च माध्यमिक इंटर विद्यालय समस्तीपुर का छात्र जो 2017 के बिहार इंटरमिडिएट कला परीक्षा में टॉपर हुआ। जब गणेश कुमार से बिहार बोर्ड ने साक्षत्कार लिया और उनसे पूछा कि सुर व ताल के संदर्भ में बताएँ तो गणेश कुमार ने सही जानकारी नहीं दिया बल्कि गोल-मटोल जबाव दिया, उनसे यह भी पूछा गया कि गायकी के क्षेत्र में बिहार से किसे पद्मश्री पुरस्कार मिला है? इसका भी कोई जबाव नहीं दे सका। चूंकि गाणेश कुमार को संगीत में 83 अंक मिला मिला था परन्तु उसे संगीत का सामान्य ज्ञान भी प्राप्त नहीं था। ऐसे उच्चतम अंक पाने वाले संगीत छात्र आगे क्या करेंगे यह तो भविष्य ही बतलायेगा।

बिहार के +2 विद्यालय व ईटर महाविद्यालयों में संगीत विषय का चयन इसलिए छात्र-छात्रा करते हैं ताकि उन्हें प्रायोगिक परीक्षा में मनमाफिक अंक मिल सके। चूंकि आजकल विद्यालय व महाविद्यालयों में प्रायोगिक कक्षायें चलती ही नहीं है। प्रायोगिक उपकरणों की जानकारी भी प्राप्त नहीं हो पाती। गायन, वादन (वाद्य यंत्र) की पूर्ण जानकारी नहीं मिल पाती है। एकल वादन, वृन्दवादन अनुगामी वादन क्या है, इसकी भी जानकारी नहीं दी जाती। संगीत के कितने प्रकार हैं- शास्त्रीय संगीत व भाव संगीत। इसका भी ज्ञान नहीं मिल पाता। पिछले 10 महीन से कोविड-19 के वजह से शिक्षण संस्थान में लॉकडाउन रहा, जिसके कारण न कक्षायें चली और न प्रायोगिक कक्षायें। तथापि संगीत के छात्र-छात्राएँ अवश्य ही उत्तीर्ण होंगे। लेकिन ऐसी शिक्षा व ऐसी

डिग्री लेकर छात्र क्या करेंगे, यह एक जटिल समस्या है। सरकार गुणवत्तापूर्ण शिक्षा प्रदान करने के लिए दृढ़संकल्पित है। परन्तु व्यवहार में ऐसा कुछ नहीं है। किसी विद्यालय में संगीत शिक्षक नहीं है तो किसी विद्यालय में पर्याप्त संगीत के साधन उपलब्ध नहीं है। कक्षायें नियमित रूप से चल नहीं पाती है। कभी शिक्षक छुट्टी पर तो कभी छात्र छुट्टी पर। संगीत शिक्षा में नियमितता एक आवश्यक शर्त है, जो यहाँ कभी पूरी नहीं हो पाती। संगीत के सैद्धांतिक पक्ष के पाठ्यक्रम का निर्माण करते समय काल-क्रम को अवश्य ध्यान में रखना चाहिए ताकि विद्यार्थियों को इतिहास के विभिन्न पहलुओं का शिक्षण ऐतिहासिक विकास-क्रम के अनुसार ही कराया जा सके।[4]

प्लेटो ने एक बार कहा था कि संगीत शिक्षा किसी भी अन्य शिक्षा की तुलना में अधिक शक्तिशाली साधन है। उनके अनुसार संगीत केवल गायन-वादन तक ही सीमित नहीं है, उसमें साहित्य के श्रेष्ठतम ग्रंथों का अध्ययन, काव्य, राग, अलापना इत्यादि भी सम्मिलित है।[5] संगीत सभी को पसंद होता है, लेकिन हर किसी को इसमें भाग लेने का अवसर नहीं मिलता है। हाल ही में हुए एक शोध के अनुसार यह पाया गया है कि संगीत मस्तिष्क के दोनों भाग का उपयोग करता है जो किसी व्यक्ति में विकास की गुंजाइश बढ़ाता है। संगीत शैक्षणिक भवनात्मक औश्र शारीरिक रूप से छात्रों के दिमाग को विकसित करने में मदद कर सकता है। संगीत का अभ्यास टीम वर्क, आत्म अनुशासन, रचनात्मकता बढ़ा सकता है चाहे वह वयस्क हो या छात्र। प्राध्यापक छात्रों को संगीत शिक्षा के माध्यम से सामाजिक विकास पर कई सकारात्मक प्रभाव प्राप्त करने में मदद कर सकते हैं। ऐसा तभी होगा जब सरकार, विद्यालयी परिवार, अभिभावक, छात्र सबके-सब अपने कर्त्तव्य का निर्वहन करें। अर्थात् जिन 72 विद्यालयों व इंटर महाविद्यालयों में संगीत की शिक्षा दी जाती है, वहाँ संगीत के शिक्षक पर्याप्त हो, संगीत साधनों की उपलब्धता हो, छात्रों की संख्या सीमित हो और संगीत-कक्षा का निरन्तर संचालन हो तभी छात्र संगीत के क्षेत्र में आगे बढ़ सकते है।

+2 तक अध्यापनरत विद्यालयों में संगीत शिक्षा की जो वर्तमान स्थिति है वह कई समस्याओं से घिरी हुई है। उक्त समस्याओं का निदान दुष्कर नहीं है, वह इच्छा शक्ति पर निर्भर है। चूंकि संगीत शिक्षा का मुख्य उद्देश्य रहा है विद्यार्थी के अंदर संगीत के प्रति गहरी समझ पैदा करना, उसके अंदर एक विश्लेषक की दृष्टि और एक अध्येता के गुण स्थापित करना। स्वभाविक तौर पर इन उद्देश्यों की पूर्ति करने के लिए उसके अंदर स्वर और ताल की अच्छी समझ पैदा होनी चाहिए। संगीत के सात स्वर सा रे ग म प ध नी द्वारा भाव रस व भावना को अभिव्यक्त किया जा सकता है। इसकी गहन जानकारी देना संगीत शिक्षक का दायित्व होता है। साथ ही गिटार, सितार, पियानो, सरोद, शहनाई, तुरही, नगाड़ा, ढोल, हारमोनियम, ढोलक, शंख, बांसुरी, मशकबीन, सारंगी, बैंजो, सैक्सोफोन, वायलिन, घंटी, तबला, सीटी, वीणा, आदि की उपलब्धता विद्यालय में करवा कर छात्रों को उन वाद्ययंत्रों की पूर्ण जानकारी देनी चाहिए तथा उसके प्रयोग विधि भी बतलानी चाहिए।

संदर्भ :

1. सक्सेना, मधुबाला (2008) भारतीय संगीत शिक्षा प्रणाली एवं उनका वर्तमान स्तर, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, पृ.-39
2. शर्मा, राधिका (2010) भारतीय संगीत को संस्थानों और मीडिया का योगदान, संजय प्रकाशन, पृ.-44
3. दत्ता, पूनम (1984) भारतीय संगीत शिक्षा और उद्देश्य राज पब्लिकेशंस, नई दिल्ली, पृ.-27
4. शर्मा, पुष्पेन्द्र (1942) संगीत की उच्च स्तरीय शिक्षण प्रणाली एक समीक्षात्मक अध्ययन, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली, पृ.-102
5. सूद, ज्योति प्रसाद (1976) प्रमुख राजनीतिक विचारक, (अफलातुन (प्लेटो) का शिक्षा का पाठ्यक्रम) के. एण्ड कम्पनी, मेरठ, पृ.-24

संगीत : दार्शनिक आयाम

पंकज कुमार शर्मा*

डा. अरविन्द कुमार**

सारांशः भारतीय संगीत का मुख्य उद्देश्य मोक्ष प्राप्ति तथा आत्मसाक्षात्कार करना है। भारतीय संगीतज्ञों ने इसे कभी साध्य नहीं माना बल्कि साधना के रूप में स्वीकारते हुए लक्ष्य प्राप्ति का माध्यम माना है। सही मायने में संगीत की सच्ची साधना वही है जिसके द्वारा मन आनंदचित हो सूक्ष्म नाद का अनुभव कर सके। भारतीय दर्शन में जीवन के चार लक्ष्य को माना गया है-धर्म, अर्थ काम और मोक्ष। जहाँ अर्थ का मन से तो धर्म को देवी देवताओं से प्रतिष्ठित किया गया है। जिसका लक्ष्य सत्य को प्राप्त करना है। कला के शास्त्र जो दर्शन ही है उसका लक्ष्य भी ईश्वर की प्राप्ति ही है। इसलिए संगीत का धर्म के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। संगीत कला की साधना मनुष्य को आत्मसाक्षात्कार कराती है और साधक मोक्ष की अनुभूति पाते है। संगीत साधना अन्तः करण में आध्यात्मिक आत्मानन्द की अनुभूति प्रदान कराती है और यही संगीत और दर्शन का मुख्य ध्येय भी है। इस शोध का मुख्य उद्देश्य है संगीत एवं दर्शन के सम्बन्धों को उजागर करना।

शब्द कुंजीः- संगीत, नाद, अध्यात्म, दर्शन, आत्मानंद आदि।

संगीत का प्रार्दुभाव मानव सृष्टि, संस्कृति एवं सभ्यता के समकक्ष ही शाश्वत एवं सनातन है। प्रादुर्भाव के परिप्रेक्ष्य में इसकी तुलना सिर्फ और सिर्फ वेदों में वर्णित 'ऊँ' एकाक्षर ब्रह्म से की जा सकती है। इसका आदि एवं अंत दोनों ही अबतक अज्ञात है। सनद रहे अन्त उसी का होता है जिसका आदि भी अस्तित्व में उपलब्ध हो। पाणिनि के संस्कृत व्याकरण नामक शास्त्र में वर्णों की विवेचना क्रम में अक्षरों को परिभाषित करते हुए कहा गया है किः- ''येन क्षरति इति अक्षरः।'' अर्थात जिसका क्षय नहीं होता वही 'अक्षर' है। वेदोक्त बीजमन्त्र 'ओम' के विग्रह का विश्लेषणात्मक स्वरूप त्रैमात्रिक माना गया है जो त्रिदेवों की त्रिगुणात्मक शक्तियों का संश्लिष्ट स्वरूप है। यथा-

ऋगवेद से-अ-ब्रह्मा की रजोगुणी शक्ति का
समवेद से-उ-विष्णु की सतोगुणी शक्ति का

तथा यजुर्वेद से-म-महेश की तमोगुणी शक्ति का संकेतक, द्योतक अथवा परिचायक है।[1] इस प्रकार भारतीय संगीत का इतिहास मानवीय सभ्यता एवं संस्कृति के विकास से विलग नहीं है।

भारत की गौरवमय संस्कृति पूर्णरूपेण अध्यात्मिक भावनाओं से ओत-प्रोत रहा है। अध्यात्मिक अवधारणाओं में भारतीय संगीत को आत्मा का अलौकिक संगीत कहा जाता रहा है जिसका उद्देश्य आत्मसाक्षात्कार एवं आत्मानन्द की उपलब्धियाँ रही है। इसीलिये इसे मोक्ष मार्गी कला के रूप में स्वीकारा गया है। भारतीय दृष्टिकोण में दर्शन वह साधन है जिसके द्वारा सूक्ष्म-स्थूल, भौतिक, आध्यात्मिक अथवा जड़ और चेतन जगत के सत्यभूत तात्विक स्वरूप का ज्ञान प्राप्त किया जाए।2 भारतीय दर्शन छः भागों में वर्गीकृत हैः- सांख्य दर्शन, योग दर्शन, न्याय दर्शन, वैशेषिक दर्शन, मीमांसा दर्शन, वेदान्द दर्शन आदि। दर्शन सिद्धान्त है तथा अध्यात्म

*(शोध छात्र) : पटना विश्वविद्यालय, पटना

**(शोध निर्देशक) : विभागाध्यक्ष (संगीत विभाग), पटना विश्वविद्यालय, पटना

इसमें स्थापित आस्था अतः इस आस्था-विश्वास का तर्कपूर्ण विवेचन दर्शन कहलाता है।

भारतीय संगीत का स्त्रोत अत्यन्त ही सूक्ष्म है, क्योंकि शास्त्रोक्त संकल्पनाओं के अनुसार इसकी सृष्टि ''नाद'' से हुई है जो एक प्राकृतिक तत्व है। संगीत में नाद को ''नादब्रह्म'' की संज्ञा देकर ब्रह्मबोधक माना गया है। नाद की सर्वव्यापकता एवं उसकी सार्वभौमिकता संगीत को ब्रह्म के समान उपास्य बनाकर संगीत के दार्शनिक विवेचन का विषय बनाती है। नाद के प्रयोग एवं प्रभाव पर प्रकाश डालते हुए मतंग मुनि ने पहली बार संगीत जगत को इससे अवगत कराया। मतंग मुनि की मान्यता से ही इसका मूल्य एवं महत्व दोनों स्पस्ट हो जाता है जब वो लिखते हैं कि-

न नादेन बिना गीतं, न नादेन बिना स्वराः।[3]
न नादेन विना वृतं, तस्मान्नादात्मकं जगत्।।
नादरूपः स्मृतो ब्रह्मा नादरूपो जनादर्नः।
नादरूप पराशक्तिर्नादरूपो महेश्वरः।।

नाद का अर्थ अव्यक्त ध्वनि से है। इसके दो प्रमुख प्रकार हैं- 'आहत' एवं 'अनाहत'। आघात से उत्पन्न ध्वनि को 'आहत' आघात की अनुपस्थिति में उत्पन्न ध्वनि को 'अनाहत' की संज्ञा प्रदान की गई है। 'आहत' नाद की साधना 'अनाहत' नाद की अनुभूति हेतू ही की जाती है। साधनोपरान्त 'अनाहत' नाद की अनुभूति होते ही साधक के लिए 'आहत' नाद का कोई विशेष मतलब नहीं रह जाता है अतः 'आहत' नाद की हमारे चित को आभ्यन्तर अनुकरण द्वारा 'अनाहत' नाद तक पहुँचाती है।4 ध्वनि स्थूल है जबकि 'नाद' सूक्ष्म। संगीतरत्नाकर, संगीतराज तथा संगीतमकरन्द आदि संगीत से सम्बन्धित शास्त्रीय ग्रन्थों में इस नाद को ब्रह्म कहकर सम्बोधित किया है। उन्होंने नाद और ब्रह्म की एकता को अद्वैतवादी वेदान्तियों की तरह जीव एवं ब्रह्म की एकरूपता के समकक्ष समझा है। अतः यह नाद ही संगीत का उपादान कारण स्वरूप है। अबतक उपलब्ध सभी प्रमुख, प्रसिद्ध एवं प्रचलित टीकाओं में उपरोक्त वर्णित 'आहत' एवं 'अनाहत' नादों का निरूपण तो मिलता है परन्तु इन दोनों के पारस्परिक सम्बन्धों का विवेचन तथा विश्लेषण सम्भवतः आगत के अन्धेरे गर्भगृह में हीं आरक्षित है। शायद इसीलिए श्रीमती विमला मुसलगॉवकर अपने 'शोध-प्रबन्ध की सुप्रसिद्ध संरचना की भूमिका में लिखती हैं- कि ''प्रस्तुत पुस्तक के प्रणयन का हमारा प्रमुख प्रयोजन यह है कि भारतीय संगीत की प्रतिपादन शैली के गर्भ में निहित शास्त्रीयता की संकल्पना को भली-भाँति समझा जा सके। संगीत के सिद्धांतों को समग्र स्वरूप में समझने के लिए दर्शनशास्त्र के उन मौलिक सिद्धान्तों को जानना भी अनिवार्य है।''[5]

अध्यात्मिक पृष्ठभूमि में भारतीय संगीत ईश्वर की अराधना का माध्यम माना गया है। भारतीय समाज में धार्मिक अनुष्ठानों की जड़ें चिरकाल से जमी हुई है। लोगो के हृदय में वेद, पुराण, रामायण, धर्म-शास्त्र तथा इष्ट की पूजा का भाव विरासत में प्राप्त है। वैदिक काल में यज्ञ आदि के समय मंत्रो का उच्चारण सांगीतिक, लय, गीत एवं ताल में होना आवश्यक था। स्वर, लय, तालादि भारतीय संगीत में मौलिक रूप से विद्यमान है जो संगीत को भौतिक रूप-प्रदान करता है और रस तथा भाव का स्त्रोत बनता है। यही रसतत्व संगीत की अंतिम परिणति तथा अध्यात्म का आरम्भ है। जब कोई संगीतज्ञ सांगीतिक स्वरों में लीन हो अध्यात्मिक शांति को प्राप्त करता है तब परब्रह्म का साक्षात्कार करते हुए परम तत्व में लीन हो जाता है और आत्मानंद को प्राप्त करता है इस आत्मआनंद का बोध चित व वृतियों के निरोध के बिना असम्भव हीं प्रतीत होता है। इसलिए दार्शनिक एवं कलाशास्त्रियों ने नाद को संगीत का आधार मानते हुए इसकी साधना को ईश्वर की साधना माना है।

संदर्भ ग्रन्थ

1. शर्मा श्रीमती स्वतंत्र, भारतीय संगीतः ऐतिहासिक विश्लेषण, पृ.सं.-15
2. शर्मा डा. गणेश दत्त, ऋग्वेद में दार्शनिक तत्व, पृ.सं. -09
3. मतंगमुनिकृत वृहद्देशीः स्वर-निर्णय प्रकरण, पृ.सं.-12
4. सचदेव रेणू, धार्मिक परम्पराए एवं हिन्दुस्तानी संगीत, पृ.सं.-36
5. मुसलगाँवकर विमला, भारतीय संगीत-शास्त्र का दर्शन परक अनुशीलन, पृ.सं.-17 (भूमिका)

बिहार में ठुमरी गायन का ''अवलोकन''

डॉ. सौरव कुमार नाहर

'ठुमरी' श्रृंगार रस प्रधान अभिनयात्मक गायन शैली है। इस शैली में स्वर और शब्द का समान महत्व है। ठुमरी की बंदिशों में प्रयुक्त एक-एक शब्द के भाव को स्वर के माध्यम से अर्थवान बनाते हुए श्रोताओं को रससिक्त किया जाता है। इस शैली के प्रस्तुतीकरण में स्वर के माधुर्य, लोच और नृत्य का भाव होना चाहिए। जिस प्रकार नर्तकाव-भाव से भाव आदि करता है। उसी प्रकार इस शैली में गायक गले से अदा करता है।

राधाकृष्ण के लि-क्रीडा से आरम्भ कर सामान्य नायक और नायिकाओं के रस भरे श्रृंगार तक की अभिव्यक्ति इस में होती है। इस गायकी में मीड़ें, कण, खटका, मुर्की आदि से अलंकृत छोटे-छोटे भावुक आलाप शब्दालाप तान तथा शब्द तानों का प्रयोग होता है। इसमें 'बहलावा' या बढ़त का कार्य छोटे-छोटे भावुक एवं नाजुक आलापों से किया जाता है। नाद के भावात्मक उतार-चढ़ाव के द्वारा कभी पुकार, कभी छेड़-छाड़, कभी आह, कभी वियोग, कभी संयोग, कभी विनती, कभी गुस्सा आदि भावों को प्रकट किया जाता है।

ठुमरी का उद्‌भव और विकास बिहार और उत्तरप्रदेश की माटी-पानी में हुआ इसलिये इसे 'पूरब' की गायकी कहा जाता है। अवध के दरबार में जहाँ इसको अभिन्नात संस्कार प्राप्त हुआ वहीं गया और बनारस की सरजमीं में आंचलिक रंगरोगन प्राप्त हुआ। ध्रुवपद संगीत की तरह ठुमरी गायकी की परम्परा यहाँ उन्नत रही है। गया के अतिरिक्त पटना, मुजफ्फरपुर, मुँगेर, भागलपुर और सहरसा इसके केन्द्र रहे हैं। यहाँ के तवायफों, कलावंतों आदि इस गायकी के गान में निपुण रहे हैं।

तवायफों में पटना के साहबजान 'माशूक', बाँहीजान 'माज', अमीरजान 'अमीर', जोहरा, रमजो-छुट्‌टन, मोहम्मदबाँदी आदि; भागलपुर की कज्जन आदि प्रसिद्ध गायिका हुई है। गया तो इस गायकी का प्रमुख केन्द्र रहा है। 'गजेन्द्र नारायण सिंह' के शब्दों में बनारसी ठुमरी के नाम से पूरब की ठुमरी पनपी; लखनऊ में और पल्लवित-पुष्पित हुई गया और बनारस में।

गया ठुमरी का ऐसा केन्द्र था जहाँ इस अंग के सर्वोच्च कलाकार भैया गणपतराव, उनके शिष्य मौजुद्‌दीन खाँ, पंडित जगदीप मिश्र आदि यहाँ वर्षों आकर रहे। गया अंग की ठुमरी को शोहरत प्रदान करने में ढेलाबाई, जद्‌दनबाई, अंगूरबाला, इंदुबाला, जीतनबाई, कल्लनबाई, पंडित सियाराम तिवारी, पंडित रामचतुर मल्लिक, केदार पाठक, ब्रह्मदेव पाठक, माधव प्रसार, रामप्रसाद मिश्र उर्फ 'रामूजी', सोनी सिंह राजपूत, गोविन्दलालनकफोफा, सरदारपंडा, शंकरलाल परबतिया, दाइबाबू, बच्चूबौद्धिया, मुनिलालझाँगर, डॉक्ट रमुनेश्वर दयाल आदि। इस अंग के सर्वश्रेष्ठ कलाकार स्वर्गीय जयराम तिवारी हुए, वर्तमान में कामेश्वर पाठक, गोवर्धन मिश्र, रामकुमार मल्लिक, प्रेमकुमार मल्लिक, अभयनारायण मल्लिक आदि प्रमुख हैं। इस अंग की गायकी का प्रभाव बनारस के कलाकारों पर भी दृष्टिगत है। बड़ी मोतीबाई, काशीबाई, रसूलनबाई, सिद्धेश्वरी

असिस्टेंट प्रोफेसर, वनस्थली विद्यापीठ

देवी आदि पर परिलक्षित है। नैना देवी भी इस अंग से आत्मसार रही।

बिहार की सरज़मी में ठुमरी की कई सरनाम कलाकार पैदा हुई। विद्याधरीबाई का जन्म पटना में ही हुआ था। बाद में ये बनारस चली गईं और मुगलसराय के निकट जसुरी ग्राम में बस गई। इस शैली की प्रख्यात गायिका बड़ी मोतीबाई का जन्म दरभंगा में हुआ था। इन्होंने संगीत की प्रारंभिक शिक्षा-दिक्षा दरभंगा राज के गायक अब्दुलगनी खाँ (किराना घराना), वशीर खाँ जैसे उस्तादों से प्राप्त की। बाद में बनारस जा कर बस गई तो मौजूद्दीन खाँ और मिठाईलालजी से भी मार्ग दर्शन प्राप्त किया बड़ी मोतीबाई की बुआ राजेश्वरी बाई का जन्म भी दरभंगा में ही हुआ था।

यहाँ रह रहे किराना घराने के उस्ताद भी ठुमरी गायन में निपुर्ण रहे हैं। उस्ताद मौलाबक्श से संगीत शिक्षा लेने के लिये गौहरजान दरभंगा राज दरबार से जुड़ी रही। इस घराने की विख्यात गायिका रोशनआरा बेगम भी ठुमरी गायकी में भी उस्ताद थी। रोशनआरा बेगम की माँ चंदाबाई भी ठुमरी दादरा गाने में लोकप्रिय रही हैं। चंदाबाई उस्ताद अमनखाँ की शागिर्द थी। दरभंगा की दरबारी गायिका बेनजीर बाई भी अपने समय की मानी हुई ठुमरी-दादरा गायिका थी।

बेतिया के जाकिर हुसैन, पटना के मौजूद हुसैन, मुँगेर के चन्द्रशेखर खाँ, मुजफ्फरपुर के विन्देश्वरी महाराज आदि इस गायन शैली को ऊँचाई प्रदान की। श्यामलाल मिश्र, बृजबाला देवी, बज्जन खाँ, बमशंकर मिश्रा, माजिद खाँ आदि ने भी इस गायकी में शोहरत पाई।

ठुमरी गायकी के सबसे नायाब रत्न माँगन खवास हुए हैं। इन्होंने देश के विभिन्न मंचो पर इस गायकी को प्रस्तुत कर अपना रंग जमाया है। बेतिया मुजफ्फरपुर, पटना, भागलपुर आदि जगहों की बाई ठुमरी, दादरा, चैती, कजरी, गज़ल आदि गायकों में दक्ष रही है। छपरा की मुरादबानों, इस गायकी में विशिष्ट स्थान रखती है। वर्तमान में अरूणा देवी, उर्मिला देवी, रम्भा देवी, सुनील कुमार सिंह, रन्जनाझा, पल्लवी पाण्डे, रजनीश कुमार, अनुराग मिश्रा आदि इस गायकी को आगे बढ़ा रहे हैं।

संदर्भ ग्रंथ-सूची

1. सिंह गजेन्द्र नारायण (बिहार की संगीत परम्परा : पृष्ठ : 21)
2. सिंह गजेन्द्र नारायण (बिहार की संगीत परम्परा : पृष्ठ : 50)
3. संगीत घराना-अंक जनवरी-फरवरी 1982 (पृष्ठ : 87)
4. मदन डॉक्टर पन्नलाल, संगीत शास्त्र विज्ञान (पृष्ठ : 21)
5. सिंह गजेन्द्र नारायण बिहार की संगीत परम्परा (पृष्ठ : 71)
6. सिंह गजेन्द्र नारायण बिहार की संगीत परम्परा (पृष्ठ : 76)
7. सिंह गजेन्द्र नारायण बिहार की संगीत परम्परा (पृष्ठ : 79)
8. सिंह गजेन्द्र नारायण बिहार की संगीत परम्परा (पृष्ठ : 80)
9. कुमार डॉक्टर अरविन्द, उपशास्त्रीय संगीत के आयाम-संगीतमई 2004 (पृष्ठ : 21)

आचार्य रजनीश की 'आनन्ददायी शिक्षा' में संगीत की प्रासंगिकता

राजीव कुमार रंजन

सफल मानव जीवन को सफल एवं सुन्दर बनाने में कला का महत्वपूर्ण स्थान है। जीवन उर्जा का महासागर है जब अंतश्चेतना जागृत होती है तो ऊर्जा जीवन को कला के रूप में उभारती है। कला जीवन को सत्यम् शिवम् सुन्दरम् से समन्वित करती है। कला मानव मन में संवेदनाएं उभारता है, उसकी अभिरुचि को सकारात्मक दिशा देता है। कला चाहे किसी भी रूप में हो उसमें मानवीयता को सम्मोहित करने की अद्भुत क्षमता होती है। जब यह कला संगीत के रूप में उभरती है तो कलाकार गायन और वादन से स्वयं को ही नहीं श्रोताओं को भी अभिभूत कर देता है। शास्त्रीय और लोकनृत्य के रसास्वादन से मनुष्य झूम उठते है। भारतीय लोक कलाओं ने हमारी संस्कृति के अनेक सकारात्मक पक्षों का चित्रण किया है। इनके माध्यम से ही हमारा लोकजीवन लोकमानस तथा जीवन का आंतरिक और आध्यात्मिक पक्ष अभिव्यक्त होता रहा है। भारतीय समाज में कला और संगीत के महत्व पर भर्तृहरि का यह श्लोक प्रकाश डालता है-

''साहित्यसंगीतकलाविहीनः, साक्षात् पशु पुच्छ विषाणहीनः।।''

अर्थात ''साहित्य संगीत और कला से अनभिज्ञ व्यक्ति पूँछ और सींग से रहित पशु है।'' अतः व्यक्ति के हृदय में चाहे किसी भी रूप में हो कला का संचार होना आवश्यक है और यह कला ऐसी हो जो मनुष्य के सुन्दर मानवता, उदारता, दयालुता, सहिष्णुता, परोपकारिता, एकता तथा राष्ट्रीयता की सबलधार का पुण्य प्रभाव कर सके। इस सन्दर्भ में पं. गया प्रसाद शुक्ल ''सनेही'' की निम्न पंक्ति उल्लेखनीय है।

जो भरा नहीं है भावों से, बहती जिसमें रसधार नहीं।
वह हृदय नहीं हैं, पत्थर है, जिसमें स्वदेश का प्यार नहीं।।

इन्हीं उद्देश्यों की पूर्ति के लिए भारत के प्रायः सभी शिक्षाविदों और दार्शनिकों ने साहित्य संगीत और कला को महत्व देते हुए उन्हें पाठ्क्रम में भी महत्वपूर्ण स्थान देने की अनुशंसा की। इन्हीं दार्शनिकों और शिक्षाविदों में एक नाम आचार्य रजनीश (ओशो) का भी है जिन्होंने अपने क्रांतिकारी विचारों से समाज को एक नई दिशा दी तथा जीवन में साहित्य, संगीत कला तथा अन्य आनन्द की रसानुभूति करते हुए मोक्ष प्राप्त करने की बात कही।

आचार्य रजनीश का जीवन परिचय-

आचार्य रजनीश का जन्म 11 दिसम्बर 1931 ई॰ को मध्यप्रदेश प्रांत के कुचवाड़ा ग्राम में एक व्यापारी के ज्येष्ठ पुत्र के रूप में हुआ था। बालक रजनीश के प्रथम सात वर्ष अपने नाना-नानी के साथ बीते। इनका पालन-पोषण काफी वैभवपूर्ण हुआ तथा नाना-नानी ने इन्हें इच्छानुकूल पर्याप्त स्वतन्त्रता दी, जिसने जीवन शक्तियों में उनकी प्रारम्भिक खोजों को प्रोत्साहित किया। बालक रजनीश को अपने दादा से प्रगाढ़ प्रेम था और उनकी मृत्यु के पश्चात

वरिष्ठ शोध अध्येता (एस. आर. एफ.), शिक्षाशास्त्र विभाग, श्रीलालबहादुरशास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय, (केन्द्रिय विश्वविद्यालय), कटवरिया सराय, नई दिल्ली

यही प्रेम उनके अन्तर्ज्ञान का कारण बना और विरक्ति का हेतु भी।

बालक रजनीश को नये नये कारनामे करने तथा रूढ़िवादी परम्पराओं का जिन्हें उनके द्वारा स्वीकार न किया जा सकता था विद्रोह करने की प्रबल एवं अदम्य इच्छा भरी थी। जो भी मान्यताएं थी उनपर सन्देह करना इनका स्वभाव था। ये किसी बात को तब मानने और करने को तैयार न होते थे जब तक कि इन्हें स्वयं इस बात से सन्तुष्टि न हो जाए।

विद्यालयी शिक्षोपरान्त वे जबलपुर के एक महाविद्यालय में गए पर जल्दी ही इन्हें महाविद्यालय छोड़ने का आदेश दिया गया। इनके अध्यापकों को नाराज किये रहने के बावजूद 1957 में दर्शनशास्त्र में इन्होंने एम.ए. की उपाधि प्रथम श्रेणी में प्रथम रहकर अर्जित की और स्वर्णपदक प्राप्त किया। वे अखिल भारतीय वाद-विवाद विजेता भी रहे।

सन् 1957-58 में आचार्य रजनीश ने रामपुर संस्कृत कॉलेज में शिक्षण कार्य प्रारम्भ किया। सन् 1960 के बाद उन्होंने जबलपुर विश्वविद्यालय में के प्रोफेसर के रूप में कार्य किया। कुल नौ साल तक अध्यापन कार्य करने के पश्चात् सन् 1966 में इन्होंने विश्वविद्यालय से त्याग पत्र दे दिया। उन्होंने कहा ''विश्वविद्यालय में रहकर बीस विद्यार्थियों को पढ़ाना मुझे समय का मूढ़ता पूर्वक अपव्यय लगा, जबकि मैं एक ही साथ पचास हजार लोगों को पढ़ा सकता था। विश्वविद्यालय से मैं विश्व मे चला गया''।

सन् 1974 में ये अपने सात शिष्यों के साथ पूना चले आए और यहीं से उन्होंने अपना महान धार्मिक कार्य करना शुरू किया। सन् 1979 को पूना से लगभग 20 कि.मि. दूर एक पहाड़ी पर ''रजनीश धाम'' नगर का शिलान्यास किया गया जिसका उद्देश्य निराशा और अन्धकार से भरे आधुनिक समाज को तथा तृतीय विश्वयुद्ध के कगार पर खड़ी मानवता को प्रेम, आनन्द और शांति का अद्भूत सन्देश देना था। जीवन और अस्तित्व का ऐसा कोई आयाम नहीं है जो उनके प्रवचनों से अस्पर्शित रह गया हो, कला, विज्ञान, मनोविज्ञान, दर्शन, शिक्षा, परिवार, सेक्स, अध्यातम, समाज, गरीबी, जनसंख्या विस्फोट, पर्यावरण, सम्भावित परमाणु युद्व का विश्वसंकट आदि अनगिनत विषयों पर उन्होंने मौलिक एवं क्रान्तिकारी दृष्टि दी है और मानव समाज का मार्गदर्शन किया है।

शैक्षिक विचार

इक्कीसवीं सदी को विज्ञान की सदी माना जा रहा है जहाँ प्रत्येक विचार प्रमाण व पदार्थ के रूप में सीमांकन चाहता है तथा सम्पूर्ण विश्व का एक दूसरे की जीवन पद्धति से परिचित होना सामंजस्य स्थापित करना मौलिकता बनती जा रही है। इस कारण प्रत्येक मनुष्य जब सभी मान्य धर्मो द्वारा स्थापित जीवन मूल्यों को विज्ञान के परिवेश में सवयं की स्वतन्त्रता के परिप्रेक्ष्य में आधार बनाने का प्रयास करते हैं तो समस्त समाज अन्तर्विरोधों से घिर जाता है जिसके परिणाम स्वरूप हमारा जीवन मानसिक दबावों व तनावों में उलझ गया है जिस कारण मनुष्य पीड़ा, व्यथा, विशाद, क्लेश आदि से आक्रान्त है। अतः जब परस्पर विरोधी आवेग हमारे समस्त प्रयत्नों को गतिहीन व अशक्त कर दें तथा मनुष्य स्वयं को अनिश्चित की स्थिति में पाए उस स्थिति में नाना प्रकार के प्रश्न प्रकट होते है। जैसे-एक सन्तुलित जीवन कैसे बिताया जाए? कैसे अपनी बुद्धि मनःस्थिति को समन्वित किया जाए? शोक, पीड़ा, सामाजिक कुरीतियाँ, धार्मिक उन्माद, अत्याचार, व्यभिचार, भ्रष्टाचार, मानसिक विकृतियाँ भेद-भाव आदि से समाज को कैसे निजात मिल सकेगी? और कैसे निश्चित करें की वर्तमान समय में हमारे कर्त्तव्य क्या हैं? आदि। इन सब के बावजूद अहम प्रश्न यह उठता है कि मनुष्य एक कर्मठ, तेजस्वी उत्साही व सरस जीवन कैसे व्यतीत करे?

यह सर्वकालिक सत्य है कि जब भी कोई युग समस्यों से जकड़ा हुआ होता है तो उसका उद्धार करने का एक मात्र साधन शिक्षा का नवीनीकरण है। शिक्षा ही मूल्यों के निर्धारण प्रक्रिया में अहं भूमिका निभाती है। वर्तमान परिस्थितियों को देखते हुए ''शिक्षा को'' एक ऐसी दृष्टि चाहिये जो विज्ञान व मनोविज्ञान के पहलू को ध्यान में रखते हुए जीवन मूल्यों के शैक्षिक वातावरण को एक समन्वयात्मक आधार देने में समर्थ हो सके। शिक्षा के वर्तमान

परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में आचार्य रजनीश ने कहा है कि ''जिस दिन भी शिक्षा विद्रोही होगी उसी दिन एक बिल्कुल ही नई मनुष्यता का जन्म हो सकता है। विद्रोही से अर्थ है मूल्यों में क्रान्ति'' निश्चित ही जीवन मूल्य गलत है अन्यथा मनुष्य के जीवन में यह अशांति एवं अर्थहीनता, कुरूपता, हिंसा, ईर्ष्या, अधर्म नहीं होता। आचार्य रजनीश ने विश्व में व्याप्त खोखली परम्पराओं संकीर्णताओं परतन्त्रताओं से ऊपर उठकर धार्मिक विज्ञान के माध्यम से एक नए जगत का सूत्रपात किया जिसमें वह धर्म विज्ञान और धर्म को विज्ञान से मिलकर ही पूर्ण मानते हैं। अपने इसी दृष्टिकोण को आधार बनाकर वे संसार में ऐसे मनुष्य को जन्म देना चाहते थे जो नैतिक और आध्यात्मिक स्तरों पर पूर्ण हो। ऐसे नए मनुष्य को उन्होंने ''जोरबा दि बुद्धा'' का नाम दिया जो भोग और योग के बीच में समन्वय स्थापित कर सके जो भौतिक जीवन का पूरा आनन्द मनाना जानता हो और गौतम बुद्ध की भांति मौन होकर ध्यान में भी उतर सके। आज विश्व की जो व्यवस्था शिक्षा के माध्यम से की जा रही है उसके सन्दर्भ में आचार्य रजनीश के कथन से स्पष्ट होता है कि ''अगर मनुष्य गलत है तो निश्चित ही शिक्षा सम्यक नहीं है'' इसके साथ ही वे शिक्षा को सम्यक बनाने का प्रयास करते हैं। धर्म और विज्ञान की सार्थकता को स्पष्ट करते हुए उन्होंने बालक के जन्म से पहले से लेकर बाल्यावस्था, किशोरावस्था तथा वृद्धावस्था तक की शिक्षा का प्रावधान इस प्रकार किया कि एक व्यक्ति अपनी जीविका से लेकर समाधि तक का सफर आसानी से तय कर सके और इन्हीं सब उद्देश्यों को पूरा करने के लिये उन्होंने ध्यान द्वारा ही बच्चों को जन्म देने और प्रत्येक स्तर की शिक्षा के लिए ध्यान विधियों पर विशेष महत्त्व दिया। इनके शैक्षिक विचार शिक्षा जगत के मनुष्यों, कार्यकत्ताओं, समाज सुधारकों, विद्यार्थियों व अभिभावकों सभी के लिए महत्त्वपूर्ण है जिससे आज की शिक्षा को नया रूप प्रदान किया जा सकता है। आचार्य रजनीश ने कहा भी है कि ''मेरी दृष्टि में चाहे कितनी भी कठिनाइयाँ हो हमें शिक्षा के ऐसे प्रयोग और ऐसी प्रक्रिया खोजनी पड़ेगी जिनमें एक-एक व्यक्ति के भीतर का फूल खिल सके। शिक्षण संस्थाएँ फैक्ट्रियाँ नहीं होनी चाहिये। शिक्षण संस्थाएँ प्रत्येक व्यक्ति की उसकी आत्मखोज मे सहयोग के स्थल होने चाहिए ताकि वह अपने आत्मखोज में निकल जाए और अपने को पा लें वह कौन है और क्या हो सकता है।''

शिक्षा क्या है? इस संबन्ध में आचार्य रजनीश कहते हैं कि शिक्षा का एक ही अर्थ है कि हम जीवन की वीणा को कैसे बजाना सीख लें। वे कहते हैं मेरा संदेश है आनन्द, मेरा संदेश है उत्सव इसलिए उनके अनुसार शिक्षा की गुणवत्ता का मूल्यांकन इस बात से होगा कि उसे प्राप्त करके व्यक्ति कितना आनंदित होता है। वर्तमान शिक्षा के संदर्भ में वे कहते हैं शिक्षा एक व्यक्ति के भीतर जलती हुई प्यास के अतिरिक्त और कुछ भी पैदा नहीं कर पाती है। हमारी पूरी शिक्षा महत्त्वकांक्षा, तुलना और दूसरे से प्रतिस्पर्धा खरी है। इसका ही यह परिणाम है कि जगत में इतना युद्ध है, इतना वैमनस्य है, इतनी शत्रुता है। हमारा स्कूल स्मृति की परीक्षा में कुछ भी जाँच नहीं पाता है। स्मृति अतीत से सम्बन्धित है और बुद्धि भविष्य से। स्मृति उससे सम्बन्धित है जो ज्ञात है और बुद्धि उससे सम्बन्धित है जो अज्ञात है। स्मृति सिर्फ पण्डित बना सकती है ज्ञानी नहीं। सम्यक शिक्षा के संदर्भ में आचार्य ने तीन बातें कही हैं जिन्हें शिक्षा सम्बन्धि विचारों का सैद्धान्तिक पक्ष कह सकते हैं। एक तो है गैर महत्वकांक्षी चित पैदा करना, दूसरा एक ऐसा चित जो तुलना न करता हो और तीसरा एक ऐसा व्यक्ति जो अपने को स्वीकार करता है, वह जैसा है।

आधुनिक शिक्षा दर्शन की नवीन संकल्पनाओं की पीठिका के रूप में आचार्य रजनीश के कार्यो को एक विशिष्ट दृष्टिकोण ये देखा जा सकता है। उन्होंने नई संकल्पनाओं सिद्धान्तों और विचारों को भिन्न व नवीन रूप दिया है। अपने प्रवचनों के द्वारा आचार्य ने मानव चेतना के विकास के प्रत्येक पहलू को उजागर किया। रजनीश यह मानते हैं कि जब तक बुद्धि, मन शरीर, व आत्मा के सम्बन्धों को स्पष्ट आकार नहीं मिलता तब तक शिक्षा के उद्देश्य व कार्य अस्पष्ट ही रहेंगे। सिग्मन फ्रायड का मानना है की मनुष्य मन के तल पर रूग्न जन्म लेता है। रजनीश यह मानते हैं कि मनुष्य रूग्न नहीं होता वह

रूग्न मनुष्यता में पैदा होता है। रजनीश की अवधारणा है की मनुष्य जन्म से सहज सामान्य और प्रामाणित होता है लेकिन मनुष्यता भाषा, धर्म, दर्शन, नीति, आदर्श, मूल्यों आदि से संस्कारित है। आधुनिक युग का निर्माण करने में विज्ञान और मनोविज्ञान दोनों पदार्थ और मन के रहस्यों का उद्‌घाटन करने में अत्यधिक सफल हुए हैं। दोनों में पदार्थ एवं मन दोनों को जीवन के एक अभिन्न अंग से रूप में प्रमाणित किया है। रजनीश के अनुसार समस्याओं का उद्‌गम सामाजिक संरचना में है। समाज के मूल्य और संस्थाएँ संकुचित है परिणामतः मनुष्य का व्यक्ति विखण्डित हो सकता है। वे तनावग्रस्त समाज के लिये अपने समाधान प्रस्तुत करते हैं।

आचार्य रजनीश के विचारो में जीवन सबसे अधिक सीखने योग्य संगीत का बोध और संगीत का भाव हैं। जीवन का अंतिम रहस्य स्वरों की भीड़-भाड़, अराजकता या आवश्कता नहीं हैं। वरन सभी स्वर मिलकर एक ही तंरग, एक ही लय उत्पन करते हैं। जीवन के पहले केन्द्र पर सभी संयुक्त है उष्मवाधित है। जो स्वरों से उपद्रव और अभाव दिखाइ पड़ता है वह हमारी श्रवणहीनता के कारण है। क्यों कि हम सम्यकतया नही पाते इसलिए हम के बीच की समस्वरता का अनुभव नहीं कर पाते। हमें स्वर तो सुनाई पड़ जाते है, लेकिन एक स्वर को दूसरे स्वर से जोड़ने वाला जो बीच का सेतु है—संगीत, वह हमें सुनाई नहीं पड़ता। श्रवण सामर्थय में वृद्धि होते ही स्वरों में अभाव और उपद्रव में न्यूनता आने लगती हैं और संगीत उभरने लगता है तथा एक ऐसा क्षण भी आता है जब स्वर शून्य हो जाता है, लहरे रूक जाती है और केवल संगीत का जगह रह जाता है, केवल संगीत की प्रतीक रह जाता है।

आचार्य के विचारों में संगीत का अर्थ है स्वरों के बीच का प्रेम संबंध जिसके कारण एक स्वर दूसरे स्वर से जुड़े होते है। जिसके कारण एक स्वर दूसरे स्वर में खो जाते है, विलीन हो जाते है। वो और स्पष्ट है कि दो स्वरों के बीच में जो अंतर है, वह भी रिक्त नहीं है। इस अंतराल को अनुभव करना ही जीवन संगीत को अनुभव करना है। समाज के संदर्भ में भी आचार्य दृष्टांत देते है कि समाज में भी मनुष्य परस्पर एक दूसरे छोर पर स्थित होता है और उनके जीवन रूपी तंरग है, छोड़ जो दृश्य है ज्यादा महत्वपूर्ण नहीं अपितु बीच की तंरग जो अदृश्य हैं। वही वास्तविक अस्तित्व हैं। उस हाल को अनुभव करना ही जीवन के संगीत का अनुभव है।

संगीत ध्यान का सुगमतम् उपाय है जो संगीत में डूब सकते है उन्हें डूबने के लिए और दूसरी चीज को खोजने की आवश्यकता नहीं है। संगीत अदभुत मादकता है, संगीत परम सुरा है। आचार्य कहते है, ऐसा मनुष्य खोजना कठिन है जिसके भीतर कहीं न कहीं संगीत के प्रति रस विद्यमान हो क्योंकि संगीत का रस अनिवार्य है। वे कहते है प्रत्येक व्यक्ति ध्वनि से निर्मित है। व्यक्ति के प्राणो में ध्वनि गूंज रही है, अनाहत नाद गूंज रहा है, ओंऽम का नाद हो रहा है। संगीत व्यक्ति के लिए ध्यान बन रहा है, समाधि बन सकती है।

संगीत में सौन्दर्य-

पाश्चात्य देशों में जो सौन्दर्य विषय से सन्दर्भित मत प्रस्तुत किए गए हैं उनमें सौन्दर्य उत्पन्न होने वाली आनन्दानुभूति का वर्णन हुआ है, उसी प्रकार भारतीय मनीषियों ने रस का विवेचन करके उससे प्रसूत आनन्दानुभूति का वर्णन किया है। क्रोंचे के अनुसार सौन्दर्य जनित आनन्द दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। प्रथम शुद्ध आनन्द द्वितीय मिश्रित आनन्द। संगीत, काव्य, चित्र, मूर्ति से शुद्ध आनन्द की प्राप्ति होती है और नाट्य कला में मिश्रित आनन्द प्राप्त होता है। इस प्रकार सौन्दर्य जन्य आनन्द और रसजन्य आनन्द में समता दिखाई देती है। सौन्दर्य और रस की प्रकृति में अन्तर यह है कि रस अपने विभाव, अनुभाव, संचारीभाव, आदि की प्रकिया पर आधारित है। नवरसों में प्रमुख श्रृंगार रस में माधुर्य की प्रधानता होती है। माधुर्य गुण हृदय को द्रविभूत कर आह्लाद की अनुभूति कराता है। श्रृंगार का स्थायी भाव रति है जो हृदय को द्रविभूत करता है। इस प्रकार सौन्दर्य का सम्बन्ध श्रृंगार रस के आलम्बन विभाव से है। सौन्दर्य संगीत कला का वाह्य कलेवर है और रस उसकी आत्मा है। रस का सम्बन्ध हृदय से है। सौन्दर्यानुभूति रजोगुण प्रधान है जबकि रसानुभूति सतोगुण प्रधान है। डा॰ हरद्वारी लाल शर्मा का मत है कि सुन्दर

वस्तु का गुण सौन्दर्य है, सुन्दर वस्तु सन्निकर्ष से रस की अनुभूति होती है। सुन्दर वस्तु और रसिक की आत्मा दोनों में ही रसानुभूति का उदय होता है। रस आत्मा की सरलतम और स्वकीय अनुभूति है और सुन्दर वस्तु के सौन्दर्य से उदित होती है।

संगीत की प्रासंगिकता-

आचार्य रजनीश के विचारों में भी लोककलाएँ और संगीत मानव की सहज, सौन्दर्यपूर्ण सृजनात्मक अभिव्यक्ति है। आदि काल से मानव अपनी बातों को रंगो, रेखाओं, मुद्राओं और सुर-ताल से अभिव्यक्त करता आ रहा है। ताड़-पत्र, छाल, कपड़े, कागज आदि जो कुछ भी मनुष्य को प्राप्त हुआ उसी को सृजन का माध्यम बना लिया और नए-नए सृजन किये। इसी सृजन का परिणाम है कि आज भारत के विभिन्न क्षेत्रों में अलग-अलग लोककलाएँ, लोकनृत्य, और लोकसंगीत प्रचलित हैं। आचार्य रजनीश ने शिक्षा के क्षेत्र में भी लोककलाएँ को पाठ्यक्रम में स्थान देने की अनुशंसा की हैं। इनके अनुसार विद्यार्थी को सृजनात्मक के सब क्षेत्र से अवगत कराना चाहिए। विद्यार्थी के पास कोई भी एक सृजनात्मक कला अनिवार्य रूप से होनी चाहिए, क्योंकि जब तक मनुष्य सृजन की कला नहीं जानता तब तक वह अस्तित्व का अंश नहीं बनता। सृजनात्मक होने से व्यक्ति दिव्यता को उपलब्ध हो जाता है और शिक्षा के परम लक्ष्य आनन्द को प्राप्त करता है।

आचार्य रजनीश ने भी ''आनन्दायी शिक्षा'' की प्राप्ति हेतु शिक्षा के क्षेत्र में लोककलाओ और संगीत को पाठ्यक्रम में स्थान देने की अनुशंसा की है जो वर्तमान शिक्षा व्यवस्था हेतु अत्यंत प्रासंगिक है।

सन्दर्भ :-

- मेघा, ''अधिगम में उत्सव भाव आचार्य रजनीश के चिन्तन के परिप्रेक्ष्य में'', (2010) एम एड लघुशोध प्रबन्ध, शिक्षा संस्थान दिल्ली विश्वविद्यालय।
- वर्मा सन्दीप, आचार्य रजनीश का शिक्षा दर्शन, (2013) पी.एच.डी. शोधप्रबन्ध, शिक्षाशास्त्र विभाग, केन्द्रीय शिक्षा संस्थान दिल्ली विश्वविद्यालय।
- सिंह, गिरीशचन्द्र (2009) आचार्य रजनीश एवं बटर्ने रसेल के शैक्षिक दर्शन का तुलनात्मक अध्ययन, पी. एच.डी. शोधप्रबन्ध शिक्षा संकाय वीर बहादुर सिंह जोनपुर (उत्तर प्रदेश)।
- रामयश, (2002) ओशो (रजनीश) का अधुनातम् शिक्षा दर्शन, पीएच॰ डी॰ शोध प्रबन्ध, शिक्षाशास्त्र, बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय, झाँसी (उत्तर प्रदेश)।
- तिवारी, श्याम सुन्दर, (2013) आधुनिक शिक्षा के विकास मे आचार्य रजनीश के शैक्षिक विचारों की प्रासंगिकता अध्ययन पी-एच॰ डी॰ शोध प्रबन्ध, शिक्षाशास्त्र, डा॰ राम मनोहर लोहिया अवध विश्वविद्यालय, फैजाबाद (उत्तर प्रदेश)।
- सोनी, बद्रीनारायण,''रजनीश के नैतिक दृष्टिकोण तथा शिक्षा में उसके अनुप्रयोग।''
- गुप्ता, विनय कुमार, 2005, आचार्य रजनीश के अनुसार धर्म की अभिनव व्याख्या, पी-एच॰ डी॰ शोध प्रबन्ध, दर्शनशास्त्र, छत्रपति, शादू जी महारज विश्वविद्यालय, (उत्तर प्रदेश)।
- कुथलिया, लीना, 1998, रजनीश का राजनैतिक चिन्तन : एक अनुशीलना, पी-एच॰डी॰ शोध प्रबन्ध, राजनीति विज्ञान अध्ययनशाला, विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन (मध्य प्रदेश)।
- नये समाज की खोज- ओशों, डायमण्ड पौकेट बुक्स प्रा. लि. नई दिल्ली
- शिक्षा नये प्रयोग- ओशों, डायमण्ड पौकेट बुक्स प्रा. लि. नई दिल्ली, 2015
- मौन संगीत- ओशों, डायमण्ड पौकेट बुक्स प्रा.लि. नई दिल्ली, 1994
- क्रान्ति सूत्र- ओशों, डायमण्ड पौकेट बुक्स प्रा.लि. नई दिल्ली, 2019
- अमृत वाणी- ओशों, साधना पौकेट बुक्स, नई दिल्ली
- फिर अमृत की बुंद पड़ी, ओशो, न्यू साधना पौकेट बुक्स, नई दिल्ली

बिहार की संगीत परम्परा में प्रयुक्त अवनद्य-वाद्य तथा सौन्दर्य उत्कर्ष में उसकी भूमिका

प्रो. पुष्पम नारायण*, संजीत कुमार**

संगीत एक अद्भुत कला है, कला का उद्गम सौन्दर्य की मूलभूत प्रेरणा से है। संगीत में गायक या वादक किस राग व किस ताल को प्रस्तुम कर रहा है, पर अधिक ध्यान न देकर उसे किस प्रकार प्रस्तुत कर रहा है उस पर ध्यान दिया जाता है। संगीत कला और सौन्दर्य का घनिष्ट सम्बन्ध है जिसमें कलाजन्य आनन्द, कलात्मक प्रतिभा, संगीत कला की विशेषता, संगीत के रूप में सौन्दर्य उत्पन्न करते के सिद्धान्त आदि का एक बहुत बड़ा शास्त्र है। जर्मन दार्शनिक हीगेल के अनुसार ''शब्द'' हमारी आत्मा के सबसे अधिक निकट है इसलिए शब्दों के माध्यम से हम आध्यात्मिक जगत की अनुभूतियों को अधिक स्पष्ट कर सकते हैं। ध्वनि में जो रूप होता है उसमें संगीत का जन्म होता है, गति में जो रूप होता है उससे नृत्य की अनुभूति होती है एक गायक व वादक की आत्मा ही स्वरों का रूप धारण करके कल्पना और वेदना से प्रेरित होकर भाँति भाँति से जो स्वरयोजना करने लगती है वही संगीत है। संगीत से आनन्द प्राप्ति का भी एक विशेष कारण है कि सर्वप्रथम ध्यान रखा जाये कि सुन्दरता एंव रूचि के अनुसार भिन्न-भिन्न व्यक्तियों को भिन्न-भिन्न वस्तुओं या कार्यों में संगीत का आनन्द लेने के लिये अपने मन को ऐसा बनाना पड़ेगा कि वह संगीत का आनन्द ले सके, फिर विभिन्न मनोस्थितियों में एक ही मनुष्य को एक ही वस्तु सुन्दर अथवा असुन्दर प्रतीत हो सकती है। इस प्रकार सुन्दरता मन स्थिति पर निर्भर करती है। अतः संगीत का आनन्द लेने के लिये सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि हमें अपनी जड़ तथा स्थिर प्रवृतियों, इच्छाओं तथा द्वन्द्वों का त्याग करके सहदयता के साथ स्वयं को संगीत के स्वर तथा लय प्रवाह में पूर्ण रूप से प्रवाहित होना पड़ेगा तभी संगीत अपनी स्वर लहरी से हृदय का एक विशेष गति प्रदान करके स्वतः जीवनमय अवस्था और मादकता प्रदान करेगा तब हमें ऐसा प्रतीत होगा कि देह का बन्धन छूट गया रस का महोदधिउमड़ पड़ा और अपने में आनन्द छा गया।

स्वर-जो ध्वनि स्वयं करने की शक्ति रखती हो वह स्वर है। संगीत-रत्नाकर में 'स्वर' के विषय में कहा जाता हैं।

''श्रुत्यनन्तरभावी यः स्निगधो ऽनुरणनात्मकः।
स्वतो रञ्जयति श्रोतृचित्तं स स्वर उच्यते।।''
(स॰र॰पृ॰82)

अर्थात् श्रुति के बाद होने वाला अनुरणन जो स्निग्ध अथवा चिकनेपन से युक्त होते हुए तक सुनाई देता है और बिना किसी सहायता के अपने द्वारा श्रोता को रंजित करने वाला नाद स्वर कहलाता है। एक ध्वनि से दुगुनी ध्वनि के मध्य सात बड़े-बड़े अन्तराल, स्वर कहलाते हैं। शुद्ध विकृत भेद से इनकी संख्या मात्र 12 है पूरे विश्व में मानी जाती है। इनके षड्ज, ऋषभ, गंधार, मध्यम, पंचम, धैवत, एवं निषाद ये शास्त्रीय नाम हैं। व्यवहार में इन्हें सा रे ग म प ध नि कहते हैं।

लय-लय शब्द का सधारण अर्थ है (गति)। प्राचीन संगीत शास्त्र में ताल क्रिया के बाद होने वाली विश्रांति को (लय) कहा गया है। दूसरे शब्दों

* अध्यक्ष, वि.वि. संगीत एवं नाट्य विभाग, ल.ना.मि.वि.वि., दरभंगा
*शोध-छात्र : संगीत एवं नाट्यविभाग, ललित नारायण मिथिला विश्वविधालय, दरभंगा

में संगीत में लगने वाले समय की समान गति को लय कहते है लय मुख्यतः तीन प्रकार की मानी गई है-विलम्बित, मध्य एवं द्रुत।

ताल-प्राचीन काल से वर्तमान काल के ग्रंथों में ताल की व्याख्याएँ की गई हैं, जिसके अनुसार क्रिया-कला के आधार पर मात्राओं से निर्मित वह रचना जो गायन, वादन और नृत्य में स्थिरता प्रदान कर उन्हें रंजक बनाती है, ताल कहलाती है। मात्रा,क्रिया (ताली,खाली) विभाग आदि के आधार पर ताल को निश्चित बोल समूह(ठेके) से अवनद्ध वाद्य पर प्रस्तुत किया जाता है ताल को जानने एवं उसका व्यवहार करने के लिए ताल के अवयवों (मात्र, ठेका सम विभाग, ताली, खाली) एवं ताल के दसप्राणों (काल मार्ग, क्रिया अंग, ग्रह, जाति, कला, लय, यति और प्रस्तार) का जानना आवश्यक है।

भारतीय वाद्यों का वर्गीकरण :-

अनाहत और आहत-नाद के ये दो भेद हैं। आहत नाद जिसको हम सुन सकते हैं, व्यवहार में ला सकते हैं, अपने पाँच ध्वनि-रूपों में जिन्हें संगीतात्मक ध्वनियाँ कहते हैं, प्रस्फुटित होता है-

ये संगीतात्मक ध्वनियाँ नखज, वायुज, चर्मज, लोहज तथा शरीरज होती हैं। वीणा आदि वाद्य नखज है, वंशी आदि वाद्य वायुज है, मृदंग आदि वाद्य चर्मज हैं, ताल मंजीरा आदि लोहज हैं तथा कण्ठ ध्वानि शरीरज हैं। इन पाँच प्रकार की ध्वनियों को उत्पन्न करनेवाले वाधों को पंचमहावाद्यानि कहा जाता है। इनमें से एक ईश्वर द्वारा निर्मित है, जो नैसर्गिक है तथा अन्य चार प्रकार के वाद्य मानव- विनिर्मित हैं।कुछ अन्य ग्रंथकारों द्वारा ये ध्वनियाँ चार अथवा तीन भी कही गयी हैं किन्तु कोहल के मतानुसार ये पाँच ही हैं। महर्षि भरत और दत्तिल ने इनकी संख्या चार मानी हैं जो तत् अवनद्ध घन एवं सुषिर हैं।प्राचीन युग में विकसित वाद्यों के प्रकारों को देखते हुए महर्षि भरत का वर्गीकरण सर्वथा उचित तथा पर्याप्त प्रतीत होता है। उन्होंने लिखा है :

ततं चैवावनद्धं च घनं सुशिरमेव।
चतुर्विधं तु विज्ञेयमातोद्यं लक्षणान्वितम्।।1।।
-भ॰ना॰ 28।।

इन चारों प्रकार के वाद्यों के लक्षण को स्पष्ट करते हुए, उन्होनें कहा है :-

ततं तन्त्रीकृतं ज्ञेयमवनद्धं तु पौश्करम्।
धनं तालस्तु विज्ञेयः सुशिरो वरां उच्यते।।2।।
-भ॰ना॰28/2

इस प्रकार तत, अवनद्ध, धन एवं सुषिर क्रमशः तन्त्री वाद्य, पुष्कर वाद्य, ताल वाद्य तथा वंशी वाद्य है। महर्षि भरत के उक्त वचनों से यह भी संकेत मिलता है कि उस समय समस्त वाद्यों को आतोद्य भी कहते थे। महर्षि वाल्मीकि तथा महाकवि कालिदास ने बहु-वाद्य-सूचक के रूप में तूर्य शब्द का भी प्रयोग किया है। महाभारत में भी अनेक वाद्यों के साथ बजने के सन्दर्भ में तूर्य का उल्लेख हुआ है। पाली साहित्य में 'तुरिया' शब्द वृन्द वादन (Orchestera) का द्योतक माना गया है। विमानवत्यु में तुरिय पंचागिक के अन्तर्गत पाँच प्रकार के वाद्यों का उल्लेख प्राप्त होता है जिन्हें आतत, वितत, आतत-वितत, धन तथा सुषिर कहा गया हैं। भरत काल से वर्तमान तक संगीत वाद्यों को चार विभागों में वर्गीकृत किया जाता है-

(1) तत् (तंतुवाद्य) (2) आनद्ध या अवनद्ध (चर्म वाद्य) (3) घन वाद्य (4) सुषिर वाद्य।

1. तत् वाद्य-

प्राचीन काल में तत् वाद्यों का उल्लेख वेद पुराणादि ग्रंथ से वर्तमान काल तक के ग्रंथों में मिलता है। जो वाद्य तार लगे होते हैं तथा उनमें टंकार या रगड़ देकर उनका वादन होता उन्हें तत् वाद्य कहते है। प्राचीन काल से वर्तमान काल तक प्रचलित कुछ तत् वाद्यों के नाम इस प्रकार हैं -

वीणा, विचित्रवीणा, सारंगी, स्वरमंडल, वायलिन, सितार, दिलरूवा, सरोद, गिटार आदि।

2. अबनद्ध वाद्य -

चर्माच्छादित वाद्यों को अवनद्ध वाद्य कहते हैं। प्राचीन काल से वर्तमान काल तक इनका उल्लेख लयधारणा एवं तालधारणा के लिये हुआ हैं। प्राचीन काल में वर्तमान काल तक उपलब्ध कुछ अवनद्ध वाद्यों के नाम इस प्रकार हैं-

दुंदुभी, पुष्कर, मृदंग, मुरज, मर्दल, पटह, आवज, हुडुवा, करटा, कुडुवा, खंजरी, चंग झल्लरी, ढक्का, डमरू, डफ, ढोलक, पखावज, दुर्दर, पणव, तबला आदि।

3. घनवाद्य-

भारतीय संगीत में तालवाद्यों के रूप में घन वाद्यों का ही प्राचीन काल में उपयोग होता था। ताल वाद्यों का नाम ''तालवाद्य'' ही था। घनवाद्य प्रचीन काल से वर्तमान काल तक के धातु निर्मित वाद्यों को कहते हैं। प्राचीन काल से वर्तमान काल तक प्रचलित कुछ घन वाद्यों के नाम-घर्घर, मंजीरा, शुद्रघंटा, कल्पतरू, चिमटा, कम्रा, ताल, कास्यताल, घंटा, जयघंटा, घुंघरू आदि।

3. सुषिर वाद्य-

फूंक या हवा के द्वारा घर्षण से ध्वनि उत्पन्न कराकर बजाये जाने वाले वाद्य को सुषिर वाद्य कहतें हैं। प्राचीन काल से वर्तमान काल तक के ग्रंथो में ऐसे वाद्यों का उल्लेख हैं। प्राचीन काल से वर्तमान तक उपलब्ध कुछ वाद्यों के नाम इस प्रकार हैं- वेणु, वंशी, मुरली, बांसुरी, तूणव, अलगोजा, शंख, सींग, तुतारी, तुरहि, शहनाई, सुनई, पुंगी, नागस्वस्म् आदि।

बिहार में प्रयुक्त प्रमुख अवनद्य वाद्य-

तबला-फारसो के तब्ल शब्द से वर्तमान काल में तबले का जन्म हुआ। गायन, नृत्य आदि में सितार, सरोद, बाँसुरी और शहनाई इत्यादि सभी वाद्यों के साथ ताल का समय नापने के लिए यह वाद्य बहुत ही उपयोगी सिद्ध हुआ। इसके दो खंड हैं। पहले को दायाँ और दूसरे को बायाँ कहते हैं।

ढ़ोलक- लोकसंगीत के वाद्यों में 'ढोलक' अत्यंत लोकप्रिय वाद्य है। ढोल और ढोलक के बीच में आधार मूलक अंतर होता है। ढोल का आकार अर्द्धगोलाकार होता है, किन्तु ढोलक का आकार लंबा व बेलनाकार होता है। इसका खोल सागवान, आम, नीम, शीशम, कटहल आदि की लकड़ी से बनाया जाता है। खोल की लंबाई औसतन डेढ़ फुट की होती है। दोनों ओर के खुले मुखों का व्यास लगभग छः इंच से दस इंच तक का होता है। मुख का व्यास उसके बनावट पर निर्भर करता है। खोल को कठरा भी कहा जाता है। इसका मध्य भाग उभरा हुआ होता है जबकि दोनों तरफ के खुले मुख मध्य भाग की अपेक्षा संकरे होते हैं। इसके दाहिने भाग को सम तथा बांये भाग को गद कहा जाता है। सम वाले भाग मुख गद की अपेक्षा कुछ छोटा होता है।

ढोलकीः- ढोलकी का आकार छोटा सुराही जैसा होता है, जिसके पेंदी के तरफ से चर्म मढ़ा रहता है। मिथिला के पमरिया इसे बड़ी कुशलता से बजाते है। बच्चे के जन्मोत्सव के अवसर पर पारंपरिक धाराओं को अपनाए पमरिया जाति के लोग ढोलकी बजाकर सोहर, खेलौना, पमारा आदि गीत गाते हैं। मिथिला क्षेत्र में एक प्रचलित वाग्धरा है कि जिसका तोंद (पेट) बढ़ा रहता है, उसे इस वाद्य का उपमा देते हुए 'ढोलकी सन पेट; कहा जाता है।

भीतर से खोखले इस कठरा के छोटे वाले मुख (सम) पर पतले चमड़े की पूड़ी और बड़े वाले मुख (गद) पर अपेक्षाकृत मोटे चमड़े की पूड़ी डालकर उसे सूत की डोर से गजरों में डालते हुए गोलाई के चारों ओर बांधा जाता है। डोरी डालते समय उसमें पीतल या लोहे के छल्लें (कड़ियां) पिरों दी जाती है, ताकि उनके माध्यम से डोरी में तनाव दिया जा सके। ढोलक को उतारने व चढ़ाने तथा स्वर में मिलाने की प्रक्रिया इन कड़ियों की सहायता से की जाती है। मढ़ते समय इसके गद वाले भाग की पूड़ी के भीतरी सतह पर, चार-पांच इंच के वृत्तनुमा, राल से बने विशेष पदार्थ का लेप चिपकाया जाता है, इसे मसाला या स्याही कहते हैं। गद की आवाज में गंभीरता एवं गूंज, इसी मसाले के कारण होता है।

ढोलक को गरदन में लटकाकर अथवा बाएं पैर से दबाकर बजाया जाता है। इसके वादक को 'ढोलकिया' कहा जाता है। आकार-प्रकार एवं वादन के दृष्टिकोण से मिथिला में ढोलक का कई प्रकार देखने को मिलता है। भजन-कीर्तन में बजनेवाला ढोलक दो हाथ लम्बा होता है, इसे 'कीर्तनियां ढोलक' कहते हैं। मुसलमान पीर-फकीर का ढोलक मध्यम आकार का, लगभग डेढ़ हाथ का होता है। इसे 'फकीराना ढोलक' कहा जात है। इसके गद पर लकड़ी का प्रयोग तजिया के अखाड़ाबाजी, दाहा के जुलूस, झरनी नाच आदि में होता है। अवसर विशेष पर इसे फकीरगण वादक बजाकर 'हस-हसैल' गायक गायन व नृत्य भी करते हैं। पेशेवर नट जाति जो ढोलक बजाता है उसे 'नटबा ढोलक' कहा जाता है। यह ज्यादा से ज्यादा एक हाथ लम्बा होता है।[1]

शास्त्रीय संगीत व राग-रागिनियों के निर्धारित ठेके, ताल, बंदिशें, लय, मात्राएं, तोड़े मुरके आदि

जो तबले, मृदंग आदि वाद्यों से बजाये जाते हैं, ये सब वादक की कुशलता से, ढोलक से भी बजाये जा सकते है।[2]

मृदंगः- मृदंग ढोलक के आकार का काष्ठ (लकड़ी) से निर्मित वाद्य है। इसे मुरज भी कहा जाता है। इसके वादक 'मृदंगिया' कहलाते हैं। मिथिला में कत्थ नाच, कीर्तनियां, विदापत और चौपहरा नाच में मृदंग बजाने की परंपरा रही है।

मानरः- मानर मृदंग से मिलता-जुलता वाद्य है। इसे बजाने वाले को 'मनरिया' कहा जाता है। मिथिला में कला, विषहरि, काली, सलहेस आदि लोक देवी-देवताओं के भओं के अवसर पर इसका वादन किया जाता है। इसके बोल व धुन पर भगत व घोड़ा नृत्य करते हैं। मानारि में घुघरू भी बंधा रहता है, जो इसके साथ ही छुम-छुम की ध्वनि के साथ रंजकता उत्पन्न करता है।

मादलः- मादल, मृदंग जाति का ही एक वाद्य है। मिथिला में निवास करने वाले धांगड़, सौतार आदि जनजाति में इस वाद्य का काफी प्रचलन रहा है। इस वाद्य का उल्लेख मिथिला के महाकवि विद्यापति ने अपने पद में भी किया है। उद्धृत पद है-

'डिमडिम डम्फ डिमिक डिम मादल।
रूनझुन मंजीर बोल।।'

नगाड़ा-नगाड़ा वाद्य धातु व मिट्टी से बना कड़ाहीनुमा दो बड़े पात्रों से बनाया जाता है, जिसका एक भाग दूसरे भाग की अपेक्षा छोटा होता है। दोनों पात्रों के मुख पर भैंस का मोटा चमड़ा मढ़ दिया जाता है। चमड़े की पुड़ियों को चमड़े की बद्धी से खींचकर चारों ओर से बांध दिया जाता है।

वैसे तो यह युग्म वाद्य है, इसे लकड़ी के दो डंडों से आधारित कर बजाया जाता है। इसकी आवाज भारी व बुलन्द होती है, जो दूर-दूर तक सुनाई देता है। प्राचीन काल में यह वाद्य 'राजशाही' व गौरव का प्रतीक माना जाता था। मिथिला में नगाड़े का प्रयोग छकरबाजी, मनचुन्ही तथा चौकीतोड़ नाच अथवा नौटंकी में संगत वाद्य के रूप में किया जाता है। नगाड़ा से धड़ाम-धड़ाम का स्वर निःसृत होता है। बड़ा नगाड़ा नीचे स्वर में तथा छोटा नगाड़ा बहुत ऊँचे स्वर में मिलाया जाता है। इसके स्वर की ऊंचाई के लिए प्रायः इसे आग में सेंकते हैं। नीचा स्वर करने के लिए बड़े नगाड़े की सतह में बने छेद से पानी डाला जाता है। बुकनेन के सूचना के अनुसार पूर्व में मुसलमान फकीर का एक जाति नगाड़ा बजाकर भीख मांगता था जिसे 'नगारची' कहा जाता था।

डफिलाः- चार अंगुली चौड़ा बड़े थाली के आकर का लकड़ी के घेरा जैसा वाद्य होता है। इस घेरा का एक तरफ चर्म से मढ़ा रहता है। लकड़ी के घेरा के बीच-बीच में पांच-छः जोड़ी धातु का झांझ लगा रहता है।

मिथिला में डफिला वादन के संग नृत्य करने की एक विशेष शैली को डफिला नाच कहा जाता है। डफिला के चाम पर हाथ का थाप और झांझ के ध्वनि मिश्रण से खूब तीव्र स्वर निकलता है। डफिला को चंगा भी कहा जाता है, इसका उल्लेख वर्ण-रत्नाकर में हुआ है। इस वाद्य का स्वर तीक्ष्ण होने के कारण अस्त-व्यस्त मनःस्थिति को 'मिथिलो चंग उड़िआयब' कहा जाता है।

डम्फाः- यह वाद्य डफिला या चंग से मिलते-जुलते आकृति का पर उससे बड़ा होता है। इसका घेरा लकड़ी या लोहे के परत से बनाया जाता है। घेरे का व्यास करीब तीन फुट या इससे अधिक होता है। चक्रकार घेरे का एक मुख बकरे की खाल से मढ़ दिया जाता है। ऐसे वाद्य को 'डम्फा' कहा जाता है।

मिथिला में मुख्यतः होली के अवसर पर इसे बजाकर फाग गाने की परंपरा आज भी विद्यमान है। अन्य अवसरों पर भी इसका वादन किया जाता है। होली के दिनों में लोग इस वाद्य का वादन करते हुए रात-रात भर नाचते गाते रहते हैं। इस वसंत वाद्य का उल्लेख कवि कोकिल विद्यापति के वसंत राग विषय के पद में हुआ है-

'डिम डिम डम्फ डिमिक डिम मादल'

बुकनेन के अनुसार मुसलमान फकीर का एक जाति 'डम्फा' बजाकर भीख मांगता था, जिसे 'डम्फावाला' कहते थे।

संगीत में सौन्दर्य-

पाश्चात्य देशों मे जो सौन्दर्य विषय से सन्दर्भित मत प्रस्तुत किए गए हैं उनमें सौन्दर्य उत्पन्न होने वाली

आनन्दानुभूति का वर्णन हुआ है, उसी प्रकार भारतीय मनीषियों ने रस का विवेचन करके उससे प्रसूत आनन्दानुभूति का वर्णन किया है। क्रोंचे के अनुसार सौन्दर्य जनित आनन्द दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। प्रथम शुद्ध आनन्द द्वितीय मिश्रित आनन्द। संगीत, काव्य, चित्र, मूर्ति से शुद्ध आनन्द की प्राप्ति होती है और नाट्य कला में मिश्रित आनन्द प्राप्त होता है। इस प्रकार सौन्दर्य जन्य आनन्द और रसजन्य आनन्द में समता दिखाई देती है। सौन्दर्य और रस की प्रकृति में अन्तर यह है कि रस अपने विभाव, अनुभाव, संचारीभाव, आदि की प्रकिया पर आधारित है। नवरसों में प्रमुख श्रृगार रस में माधुर्य की प्रधानता होती है। माधुर्य गुण हृदय को द्रविभूत कर आह्लाद की अनुभूति कराता है। श्रृगार का स्थायी भाव रति है जो हृदय को द्रविभूत करता है। इस प्रकार सौन्दर्य का सम्बन्ध श्रृंगार रस के आलम्बन विभाव से है। सौन्दर्य संगीत कला का वाह्य कलेवर है और रस उसकी आत्मा है। रस का सम्बन्ध हृदय से है। सौन्दर्यानुभूति रजोगुण प्रधान है जबकि रसानुभूति सतोगुण प्रधान है। डा॰ हरद्वारी लाल शर्मा का मत है कि सुन्दर वस्तु का गुण सौन्दर्य है, सुन्दर वस्तु सन्निकर्ष से रस की अनुभूति होती है। सुन्दर वस्तु और रसिक की आत्मा दोनों में ही रसानुभूति का उदय होता है। रस आत्मा की सरलतम और स्वकीय अनुभूति है और सुन्दर वस्तु के सौन्दर्य से उदित होती है।

ब्रिज के नीचे स्थित चर्म पर्र आधारित हैं, अतः अपने दृढ़ आवाज़ के कारण उत्साह, उल्लाह, दृढ़तायुक्त वीरत्त्व के भावाभिव्यक्ति के लिए सरोद का महत्त्व है। इससे उत्पन्न ध्वनियों में मधुरता नहीं ऐसी बात नहीं है, मधुरता में भी पौरूषत्त्व-दृढ़ता की अभिव्यक्ति होती है। इसी दृष्टि से सरोद में क्लिष्ट लयकारी का अपना अलग आनन्द है। परन्तु सितार इससे नितांत भिन्न प्रकृति का वाद्य हैं जिसमें कोमलतायुक्त माधुर्य का सागर लहराता है तथा सरोद की दृढ़ता का इसमें अभाव है।

सारंगी-

स्वभावतः दर्दीली आवाज़ की जननी है सारंगी जब-गज से निकलने वाली खरोच से हीन सुरीली आवाज़ से किसी भावप्रधान राग की अवतारणा करती है तब उसे सुनकर वियोग श्रृंगार व करूण भाव की अनुभूति श्रोताओं को स्वभावतः होती है। इन्हीं स्वभावगत भिन्नता के कारण वादक वाद्य के स्वभाव के अनुकूल राग को चुनकर भावाभिव्यक्ति की दृष्टि ये भावानुकूल सामग्री का चयनकर जब वादन प्रस्तुत करता है तब उससे वीर-श्रृंगार-करूणादि अनुभूति की भावभूमि बनती है। वादन में पद प्रयोग की न्यूनता से जहाँ रसाभिव्यक्ति की अस्पष्टता रहती है वहीं स्वरात्मकसौंदर्स की अभिव्यक्ति की विशाल क्षमता का सागर भी उसके सामने लहराता है। ऐसे अनेक कारणों से वादन से उत्पन्न आनन्द को भावभूमि पर आधारित 'नादानंद' या 'नादरस' कह सकते हैं।नादानंद भी स्वरप्रधान आनंद की अनोखी अनुभूति ही है; इस दृष्टि से नादब्रह्मानंद की अनुभूति भी 'रस' ही है।

सौन्दर्य उत्कर्ष में अवनद्ध वाद्यों की भूमिका-

तबला- मृदंग जैसे ताल वाद्यों की ध्वनि में भी आनन्द प्रदान करते की क्षमता होती है। तालवाद्यों से उत्पन्न चमत्कारिक, ध्वन्यात्मक, लयप्रदान, आनंदाभूति की विलक्षणता, किसी वादन या गायन के साथ संगति के रूप में किये जाने वाले वादन के क्षणों में होती है। इसी विलक्षणता के कारण तालवाद्यों की संगीत के बिना गायन-वादन अधूरा रहता है। इस विलक्षणता का अनुभव विशेषतः उस समय होता है जब सितार सरोद वादक विस्तारपूर्वक तालहीन आलाप के साथ राग के स्वर-रूप व्यक्तित्त्व को स्थापित करने के पश्चात् तालबद्ध बंदिश प्रस्तुत करता है और तब तबलावादक चमत्कारिक उठान लेकर तिहाई के साथ सम पर आता है यह समय इतना महत्त्वपूर्ण होता है जिसमें तबला-वादक अपनी वादन क्षमता से महत्त्व को स्थापित करता है। लयकारी के कठिन क्षणों में भी तबला वादन के अलौकिक आनंद की अनुभूति श्रोताओं को होती रहती हैा द्रुतलय में जब सितार या सरोद वादक झाला का प्रयोग करता है तब उसके साथ 'नाधीधीना' की उड़ान श्रोताओं को मुग्ध कर देती है। स्व॰ अनोखेलाल के 'नाधीधीना' की मिठास तो तारवाद्य वादकों के तार की उड़ान की अनुभूति कराने में सक्षम सिद्ध

होती थी। यह तो संगति से 'लयब्रहम' की अनुभूति की अवधारणा है।

स्वतंत्र तबला- मृदंगादि वाद्यों के वादन से उद्‌भूत-ताल-लय और पाटाक्षरों के समन्वय से उत्पन्न चमत्कारिक आनंद भी बेजोड़ है। विभिन्न पाटाक्षरों से निर्मित भिन्न-भिन्न प्रबंधों (रचनाओं) के विस्तार से व्यंजित आनंद का 'ध्वन्यात्मक आनंद' या नादानंद' कहने में किसी प्रकार की अतिशयोक्ति नहीं है। इस आनंद का स्थायीभाव लय है; जिसकी स्थिति सम्पूर्ण में अनायास दिखती हैं। इसी स्थायीभाव के स्थित (हृदय में) होने के कारण प्रत्येक प्राणी लयबद्ध पाँव रखते हुए चलता है। इस स्थायीभाव रूप लय का विभाव मात्राओं से निर्मित ताल है; ताल का ठेका 'उद्‌दीपन विभाव' है। तालबद्ध-पेशकार-कायदा आदि रचनायें अनुभाव रूप हैं; जिनके माध्यम से लय की भाव भागिमायें स्पष्ट होती है। संचारीभावों का विस्तार गत, परन, रेला, जैसे रचनायें करती हैं, जिनसें लयरूप- स्थायीभाव का पूर्ण पोषण-पुष्टिकरण होता है। और यही लयरूप स्थायी भाव-विभाव-अनुभाव-संचारी भावों से पुष्ट होकर-'लयानंद', के रूप में अभिव्यक्त होता है। तालवाद्यों के वादन से उत्पन्न - अभिव्यक्त लयानंद का, लयरस का यही क्रम है।

लयवाद्यों की संख्या बहुत अधिक हैः जिनसे उत्पन्न नाद भी भिन्न-भिन्न जातियों के हैं। इन विभिन्न रूपोंवाले नादों में भावोत्पादन की अपार क्षमता है इसलिए इनका विनियोग नाट्य में रसानुकूल किया जाता रहा है। जैसे रागों के भिन्न - भिन्न स्वभाव उनमें प्रयुक्त विभिन्न अंतरालों के स्वरों व स्वरावलियों के प्रायोगिक रूपों पर आधारित होते हैं उसी प्रकार तालों की स्वभावगत भिन्नता प्रयुक्त मात्रा संख्या, तालखंडों, लयभिन्नता व पाटाक्षर (बोलों) की भिन्नता पर आधारित होती है। जैसे- चौताल-बिलम्बित लय प्राधान्य, समसंख्यात्मक मात्र रूप, समान मात्राओं के खंडयुक्त एवं खुलाप्रहारोत्पन्न प्रयुक्त के कारण धीर-विधि गंभीर प्रकृति का ताल है। धमार-विषम मात्रात्मक खंडो, प्रयुक्त बोलों की बोलों की ध्वनियों की भिन्नता के कारण वक्र स्वभाव का ताल है। झपताल-2,3,2,3, मात्राओं के विभाजन से बने खंडों व अपने स्वभावगत मादकता के कारण -मध्य-बिलम्बित लय प्रधान कलात्मक ताल है। त्रिताल का सरल स्वभाव, सम मात्राओं वालें खंडों व मनोहर बोलों से अभिव्यक्ति होता है। झपताल को अधिक बिलम्बित लय में प्रयोग करने से ताल का मूल क्रीड़ात्मक मादक स्वभाव गंभीर बन जाता हैं। और ताल में निहित स्वभाविक लय के झोंके का आनंद तिरोहित हो जाता है। चौताल-धमार व झपताल का स्वभाव द्रुतलय के पूर्ण विपरीत है। कहरवा की चंचलता युक्त मादकता सहज श्रृंगारिक है। दादरा की ठुमकन भी श्रृंगारिक हैा कहरवा व दादरा स्वभाव से मध्य व द्रुतलय के ताल हैं, परन्तु बिलम्बित लय में इनका प्रयोग श्रृंगारिक शालीनता का द्रुत लय में कालत्मक, श्रृंगारिक बन जाता है। निष्कर्ष यही है कि तालों का भी प्राकृतिक स्वभाव प्रायः निश्चित् है यही कारण है कि इसका प्रयोग स्वभावनुकूल गीतशैलियों में किये जाने का विधान निश्चित् है। कई व्यक्ति ऐसे होते हैं जो स्वयम् की परिस्थिति के अनुकूल बना लेते हैं। त्रिताल प्रायः इसी प्रकार का ताल है इसलिये सामान्य गंभीर भी है, सरल श्रृंगारिक भी है, शांत भी है, चपल भी हैं। परिस्थिति के अनुकूल रूप धारण कर लेने में सक्षम होने के कारण अधिक लोकप्रिय भी है।

इसी दृष्टि से बिलम्बित लय का प्रयोग शांत, करूण, रसानुकूल, मध्यलय का प्रयोग श्रृंगार- हास्य के अनुकूल और द्रुतलय उत्साहवर्द्धक एवं चमत्कारिकता के अनुकूल स्वभाव का होने से वीर -अद्‌भुत रसानुकूल है। इस सम्बन्ध में नाट्यशास्त्र के ये वचन माननीय है :-

यतयः पाणयैश्चैव लयश्चैव प्रयोक्तृभिः।
यथाक्रमं हि कर्तव्यं गीतयुक्तिवमवेक्ष्य च।।

संदर्भ ग्रंथ :-

(1) मिश्र, पंडित छोटेलाल, ताल-प्रबन्ध, पृष्ठ संख्या-11
(2) कुमार, डॉ॰ अजय, पखावज की उत्पति विकास वादन शैली, पृष्ठ संख्या-9
(3) सिंह, डॉ॰ चित्रलेखा कला शिक्षा
(4) मिश्र, डॉ॰ लालमणि भारतीय संगीत वाद्य पृष्ठ संख्या-48,143,157
(5) सिंह, डॉ॰ तेज नेट संगीत, टाक पृष्ठ संख्या-10
(6) सिंह, डॉ॰ गजेन्द्र नारायण बिहार की संगीत परम्परा पृष्ठ संख्या-30-48

संगीत चिकित्सा क्षेत्र में व्यवसाय की संभावनाएँ

डॉ. नीतू गुप्ता

संगीत सुकून है, चैन भी है संगीत।
संगीत शान्ति है व कई मर्ज़ की दवा भी है संगीत।।

ललित कलाओं के अन्तर्गत संगीत कला सर्वश्रेष्ठ कला है। संगीत कला वह कला है जो अमूर्त भावनाओं को मूर्त रूप प्रदान करने का सशक्त माध्यम है। 'संगीत' एक 'कला' है व 'चिकित्सा' एक 'विज्ञान'। कला एवं विज्ञान का समन्वय, जहां से संगीत चिकित्सा का प्रचलन प्रारंभ होता है। संगीत जीवन के सुख दुःख भावों की सबल, सफल भावनाओं और सर्वाधिक अभिव्यक्ति भी है।

संगीत का मानव जीवन के साथ संबंध केवल भावनात्मक, मनोरंजनात्मक एवं आध्यात्मिक रूप तक ही सीमित नहीं रहा वरन् चिकित्सा के क्षेत्र में भी इसका हस्तक्षेप अतुलनीय रहा है। प्रश्न उठता है कि संगीत चिकित्सा क्या है? संगीत में निहित ध्वनि के विभिन्न स्वरूपों में आकर्षक ध्वनियों से रचित संगीत का सीधा संबंध मानव मन के सूक्ष्म एवं कोमल संवेगों से है। ध्वनि तरंगें दुखित व्यक्ति को अपने संवेगात्मक प्रभाव से विशेष रूप से आकर्षित करती है। इस प्रकार विशिष्ट ध्वनियों के मिश्रण से निर्मित संगीत विभिन्न प्रकार के भावों का निर्माण कर मानव मन व शरीर पर गंभीर प्रभाव डालता है, इस प्रभावोत्पादक क्षमता का प्रयोग जब चिकित्सा के रूप में शारीरिक एवं मानसिक संतुलन को व्यवस्थित करने के उद्देश्य से किया जाता है तो यह प्रभावात्मक प्रक्रिया संगीत चिकित्सा (Music Therapy) कहलाती है।

वर्तमान संघर्षमय, भागदौड़, प्रतिस्पर्धात्मक युग में काम से बोझिल उदासीन तनावयुक्त जीवन में संगीत संजीवनी औषधि है, जो व्यक्ति में सकारात्मक ऊर्जा का संचार कर विकासोन्मुख स्वस्थ प्रतिस्पर्धा का मार्ग प्रशस्त करती है।

संगीत चिकित्सा का आज ही नहीं वरन् प्राचीन समय से ही इसके विभिन्न प्रयोगों के प्रमाण प्राप्त होते हैं। संगीत, योग प्रक्रिया का भी एक प्रकार है और प्राचीन समय से ही कई रोगों को दूर करने में विभिन्न राग-रागिनियों को प्रयोग में लाया जाता रहा है व आज भी संगीत चिकित्सा जगत में कई प्रकार के अनुसंधान, शोध, अनुप्रयोग हो रहे हैं, जिसके उचित व प्रत्यक्ष परिणाम भी सामने आ रहे हैं, क्योंकि संगीत का संबंध मनोभाव से है तथा मनुष्य की समस्त शारीरिक क्रियाएं मन से जुड़ी हैं।

भारतीय संगीत का प्रेरणा और प्राण शक्ति की क्षमता को पहचान कर पाश्चात्य विद्वानों की मान्यताएँ भी भारतीय दर्शन की पुष्टि करने लगी है। एलोपैथी, होम्योपैथी, बायोकेमि, नैचुरोपैथी, एक्यूप्रेशर आदि चिकित्सा पद्धतियों की तरह पश्चिमी देशों में भी संगीत से रोगों के उपचार की विधि खोज ली गई है व उसका सफलापूर्वक प्रयोग भी आज बहुतायत से किया जाने लगा है। संगीत की अपरिमित प्रयोगात्मक शक्ति उसकी व्यापकता एवं प्रभावोत्पादकता की नींव जितनी सुदृढ़ है उतना ही व्यवसाय की संभावनाओं से परिपूरित भी है। डॉ. कविता चक्रवर्ती के अनुसार- ''मनोवैज्ञानिकों का ऐसा विश्वास है कि संगीत में अच्छी औषधियों के मुकाबले रोग विनाशक गुण हैं।'' अतः आज संगीत चिकित्सा एवं संगीत दोनों का समन्वित रूप व्यवसाय के क्षेत्र में नई संभावनाऐं विकसित कर सकता है। वर्तमान में

असिस्टेन्ट प्रोफेसर (सितार), संगीत विभाग, डी. ई. आई., दयालबाग आगरा-5

संगीत चिकित्सा प्रत्येक क्षेत्र में उपलब्ध है व संगीत का प्रयोग समस्त प्राणियों के रोग निवारण में, जीव-जन्तुओं, पेड़-पौधों पर अपना स्वास्थ्य वर्धन प्रभाव उत्पन्न कर लाभ प्रदान करती है।

इस क्षेत्र में भारत के साथ विदेशों में भी संगीत चिकित्सा द्वारा व्यवसाय हमारे देश की अपेक्षा अधिक प्रसिद्ध है जैसे कि चीन में एक नई इलैक्ट्रोथेरेपी (संगीत विद्युत चिकित्सा पद्धति का) प्रयोग प्रारम्भ हो चुका है। इस पद्धति में एक्यूप्रेशर बिंदूओं के बीच विद्युत प्रभावित की जाती है व रोगी को संगीत भी सुनाया जाता है।

मद्रास के अपोलो अस्पताल में संगीत चिकित्सा विभाग है, जिसमें संगीत चिकित्सा दी जाती है। इसके अतिरिक्त एक वर्ष का Advance Level Therapy Course भी चलाया जाता हैं। संगीत चिकित्सा पद्धति के विकास यात्रा पर हम दृष्टिपात करते हैं तो पाते हैं कि व्यवसाय के क्षेत्र में जैसे- Hospitals, General Psychiatric, Schools, Out Patient Clinics, Mental Health Centre, Nursing Homes, Day Centers, Music Therapy Trust (Delhi), Music Therapy Centre (Mumbai), Sampoorna Music Therapy Centre (Banglore), Correctional Facilities, Hopices के अलावा अन्य क्षेत्र में संभावनाएं हो सकती है। जर्मनी के डॉ. राल्क स्टिटगों द्वारा चिकित्सालय में नई दिल्ली में स्थित 'शक्ति विकास प्रकल्प' के संस्थापक व अध्यक्ष द्वारा इन्स्टीट्यूट ऑफ मेन्टल हेल्थ आदि जैसे संस्थानों को विकसित किया गया। इस प्रकार के अन्य कई संस्थान भी खोले गये हैं।

निश्चय ही संगीत में वह अलौकिक अद्‌भूत क्षमता है जिसके प्रभाव से कल्पना, सृजनशीलता तथा रचनात्मकता बढ़ती है। जीवन का दृष्टिकोण परिवर्तित हो जाता हैं। इतना कुछ होने के बावजूद भी संगीत चिकित्सा को व्यवसाय के क्षेत्र में उतनी सफलता नहीं मिली जितनी मिलनी चाहिए। आज आवश्यकता सिर्फ इस बात की है कि लोगों को जागृत किया जाय, लोगों को संगीत चिकित्सा पद्धति के बारे में जानकारी दी जाय, समझाया जाय, संगीत के महत्व को बताया जाय तो निश्चय ही इस दिशा में व्यवसाय की संभावनाएं और अधिक विकसित हो जायेगी व स्वस्थ सुदृढ़ समाज का निर्माण हो सकेगा व लोगों को अधिक से अधिक व्यवसाय भी प्राप्त हो सकेगा। इस क्षेत्र में अभी भी शोध संभावनाएँ अभी किया जाना आवश्यक है।

संदर्भ ग्रन्थ-

1. इंटरनेट से प्राप्त जानकारी।
2. भारतीय संगीत की मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि- डॉ. कविता चक्रवर्ती
3. छायानट पत्रिका- जुलाई से सितम्बर, 2006
4. संगीत पत्रिका- अप्रैल, 1988
5. संगीत चिकित्सा- डॉ. सतीश वर्मा
6. संगीत चिकित्सा महत्वपूर्ण जानकारी- डॉ. भास्कर राव खांडेकर
7. संगीत कलाविहार- मई 2005

संगीत में भावाभिव्यक्ति का साधन : काकु

अभिनव नारायण आचार्य*, डॉ. संगीता पंडित**

सार- शब्द से अर्थ की प्राप्ति के कई आधार होते हैं जिनमें से काकु एवं चेष्टा को सर्वप्रमुख आधार माना जाता है। काकु किसी व्यक्ति अथवा कलाकार की हृदयगत भावना को अभिव्यक्त करने का साधन होती है। भाषणशास्त्र में यह काकु दो प्रकार की होती है- साकांक्ष काकु एवं निराकांक्ष काकु तथा जब इसी काकु का संगीत में समावेश होता है तो यह छह प्रकार की हो जाती है- स्वर काकु, राग काकु, अन्य राग काकु, देश काकु, क्षेत्र काकु, यन्त्र काकु। संगीत में काकु अपने प्रत्यक्ष रूप में ना रहकर छाया रूप में रहती है इसीलिए इसे छाया काकु कहा जाता है।

सूचक शब्द- स्वरजा, रागजा, अन्य रागजा, स्यात्, देश।

भूमिका- भारतीय काव्यशास्त्र में रस संबंधी प्रकरण में शब्द और अर्थ का भी उल्लेख हुआ है। प्रत्येक कलाकार को इसके स्वरूप की जानकारी होना परमावश्यक है क्योंकि शब्दार्थ का स्वरूप अगर अस्पष्ट है तो श्रोता अथवा ग्राहक को ना तो काव्य का अर्थ ही समझ में आता है और ना ही वह उससे आनंद की ही प्राप्ति कर सकता है। वास्तव में शब्द से अर्थ की प्राप्ति श्रोता को किस प्रकार होती है उसपर विचार करते हुए विद्वानों ने यह बतलाया है कि किसी भी शब्द का कभी कोई निश्चित अर्थ नहीं होता। दरअसल शब्द से अर्थ-बोध का निर्धारण कुछ प्रमुख आधारों पर होता है जो निम्नलिखित हैं—

1. कौन बोल रहा है (वक्ता)
2. कहाँ बोल रहा है (देश)
3. कब बोल रहा है (काल)
4. कैसे बोल रहा है (काकु एवं चेष्टा)
5. वहाँ वक्ता एवं श्रोता के अलावा और कौन उपस्थित है (अन्य-सन्निधि)
6. किस प्रसंग में बोला जा रहा है (प्रकरण)

अर्थोपलब्धि के उपरोक्त सभी निर्धारक तत्वों में से सबसे महत्वपूर्ण तत्व काकू एवं चेष्टा को ही माना जाता है क्योंकि बहुधा हम कई ऐसे व्यक्तियों को देखते-सुनते हैं जिनकी बातें तो बड़ी जानी-सुनी होती हैं एवं हम उन बातों को पहले भी कई बार सुन चुके होते हैं परंतु उनका अपनी बात को कहने का ढंग अथवा तरीका इतना आकर्षक और मनोरम होता है कि हमें पहले की जानी-सुनी बातें भी नवीनता का आनंद प्रदान करती हैं और हम घण्टों मंत्रमुग्ध होकर उनकी बातें सुनते रह जाते हैं तथा इसके विपरीत कुछ ऐसे व्यक्ति भी होते हैं जिनकी कही गई बात तो पूर्णतया नवीन रहती है परंतु उनके कहने का तरीका अथवा ढंग ऐसा आकर्षणहीन एवं शुष्क होता है कि श्रोता का मन उन बातों में नहीं लगता और प्रायः हम ऐसे व्यक्तियों से यथाशीघ्र पिंड छुड़ा लेना ही पसंद करते हैं। कहने का अर्थ यह है कि शब्द से अभीष्ट अर्थ की प्राप्ति के लिए केवल शब्द का उच्चारण कर देना ही सबकुछ नहीं होता बल्कि उसके उच्चारण का तरीका अथवा ढंग भी बहुत कुछ मायने रखता है। अर्थात् कैसे कहा जाये-क्या कहा जाये से अधिक महत्वपूर्ण होता है।

*शोध छात्र, गायन विभाग, संगीत एवं मंच कला संकाय, का.हि.वि.वि.

** डॉ. संगीता पंडित (प्रोफेसर, गायन विभाग, संगीत एवं मंच कला संकाय, का.हि.वि.वि.)

वस्तुतः एक प्रतिभासंपन्न कलाकार एवं एक साधारण मनुष्य की भावनाओं में कोई विशेष अंतर नहीं होता परंतु उन भावनाओं की अभिव्यक्ति ही कलाकार और श्रोता के बीच का अंतर स्पष्ट करती हैं। एक ओर साधारण मनुष्य की भावना 'गूंगे का गुड़' बनकर रह जाती है। अर्थात् वह भावनाओं की अनुभूति तो करता है परंतु अभिव्यक्ति नहीं कर पाता। वहीं दूसरी ओर कलाकार उन भावनाओं को ना सिर्फ अनुभव करता है बल्कि उन्हें इस प्रकार से अभिव्यक्त करता है कि श्रोता के हृदय में भी लगभग वे ही भावनाएँ जागृत हो जाती हैं। संभवतः इसी को लक्ष्य करके अंग्रेजी में एक कहावत है-

What oft was thought but never so well-expressed.[1]

अर्थात् वक्ता द्वारा कही गई बात सोची तो कई बार गई थी परंतु कभी इतने अच्छे ढंग से अभिव्यक्त नहीं की गई।

इसी 'क्या' और 'कैसे' को आलोचनाशास्त्री कला का भावपक्ष एवं कलापक्ष कहते हैं।

श्रव्य माध्यम से ग्रहण की जाने वाली कलाओं में श्रोता के हृदय में कलाकार अपनी हृदयगत भावना को जागृत करने के लिए जिस साधन का उपयोग करता है वह साधन काकु है। आगे हम काकु के बारे में विस्तार से वर्णन करेंगे।

जहाँ कंठध्वनि भिन्न तें, आसय जुदो लखाय।
सो वक्रोक्ती काकु है, कविवर कहैं बुझाय।।[2]

अर्थात् जहाँ शब्द के उच्चारण में कंठ ध्वनि से शब्द के निश्चित अर्थ में परिवर्तन आ जाये वहाँ काकु होती है। वस्तुतः शब्द केवल अर्थ के सूचक मात्र होते हैं तथा काकु ही वास्तव में अर्थ की बोधक होती है। एक उदाहरण लीजिए यह सभी जानते हैं कि ना का अर्थ निषेध करना होता है परंतु इस छोटे से शब्द का अर्थ भी काकु ही निर्धारित करती है तथा काकु के द्वारा इस शब्द का अर्थ कई बार विपरीत तक हो जाता है जैसे 'बोलिये न', चुप क्यों हैं?' 'मैंने आपसे कहा था न।' इन दोनों वाक्यों में ना का अर्थ निषेध ना होकर उसका विपरीत अर्थात् विधि ही है। इस काकु का प्रभाव भाषण पर सर्वाधिक रूप से देखने को मिलता है यहाँ तक कि काकु के द्वारा भावाभिव्यक्ति करने पर शब्द का मूल स्वरूप भी कई बार परिवर्तित हो जाता है। उदाहरणार्थ बाबू का बबुआ, बच्चा का बचवा या बहन का बहनिया आदि। वस्तुतः बोलते अथवा गाते समय काकु प्रयोग के द्वारा भावाभिव्यक्ति के समय किसी शब्द अथवा वाक्य का उच्चारण अधिक बल देकर किया जाता है बोलने के क्रम में मेज पर हाथ पटकना या पंजो के बल पर खड़े हो जाना तथा गाने में हाथों को हवा में स्वर के अनुसार लहराना इसी काकु प्रयोग का ही प्रमाण है। कई बार इन आंगिक चेष्टाओं का प्रभाव वाक्य पर इतना गहरा पड़ता है कि वाक्य के स्वरूप में भी परिवर्तन आ जाता है। जैसे 'है' की बजाय 'हइये है' या 'करेंगे' के बजाय 'करबे करेंगे' आदि वाक्य पर काकु के प्रभाव को स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। यहाँ तक कि कई बार काकु के आधार पर नये शब्दों का जन्म भी हो जाता है। जैसे पका शब्द का प्रयोग सामान्य तौर पे पक्वता के भाव के सूचक के रूप में होता है। जैसे पका आम, पकी रोटी आदि। परंतु काकु के प्रभाव से इसी शब्द से एक और शब्द 'पक्का' का भी जन्म हो गया है जिसका अर्थ पका शब्द के अर्थ से कुछ भिन्न है। जैसे पक्का बदमाश, पक्की सड़क या पक्का चोर आदि। इन उदाहरणों से अभिव्यक्ति में काकु के प्रयोग के महत्व को स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है एवं जब बात संगीत कला की हो तो यह महत्व और भी बढ़ जाता है।

काकु शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम आचार्य भरत के ग्रंथ नाट्यशास्त्र के उन्नीसवें अध्याय में मिलता है जो कि नाट्य में संवादों को बोलने के संदर्भ में किया गया है। संगीत के संदर्भ में काकु का वर्णन सर्वप्रथम संगीतरत्नाकर में आया है। चूँकि काकु भाषण शास्त्र से संबंधित तत्व होता है तथा संगीत में तथा इसकी पूर्ण प्रक्रिया को आत्मसात करना संभव नहीं होता है क्योंकि संगीत में स्वर आदि के उतार-चढाव की सीमा निर्धारित रहती है। संभवतः इसीलिए संगीत के संदर्भ में स्वतंत्र रूप से काकु शब्द का प्रयोग ना करके छाया काकु शब्द का प्रयोग किया गया है। जिसका अर्थ यह हो सकता है कि संगीत की भाव सम्प्रेषण की प्रक्रिया में स्वतंत्र रूप में काकु ना रहकर छाया रूप में ही रहती है।

संगीत रत्नाकर में काकु के संबंध में निम्न श्लोक आया है-

छाया काकुः षट्प्रकारा स्वररागान्यरागजा।।
स्याद्येषक्षेत्रयन्द्धत्रणां तल्लक्षणमथोच्यते।[3]

अर्थात् संगीत में काकु छाया के रूप में छह प्रकार की होती है- स्वरजा, रागजा, अन्य रागजा, देश काकु, क्षेत्र काकु और यन्त्र काकु। आगे हम काकु के इन्हीं छह प्रकारों का संक्षिप्त वर्णन कर रहे हैं।

1. स्वरजा काकु- स्वरजा काकु के अंतर्गत कहा गया है कि

श्रुतिन्यूनाधिकत्वेन या स्वरान्तरसंश्रया।।
स्वरान्तरस्य रागे स्यात् स्वरकाकुरसौ मता।[4]

अर्थात् गायन में किसी स्वर के लगाव के समय श्रुति को उतारने या चढ़ाने पर या एक स्वर से दूसरे स्वर पर जाने में एवं राग के अंतर्गत स्वरान्तर करने में कंठ ध्वनि में जो विकार उत्पन्न होता है उसे स्वर काकु कहा जाता है। स्वर काकु की व्याख्या के समय उदाहरण के रूप में आचार्य कल्लिनाथ ने बताया है कि निषाद स्वर को दो श्रुति ऊपर चढ़ाने में निषाद स्वर पर षड्ज की छाया आ जाती है तथा वह षड्जवत प्रतीत होने लगता है। इसी प्रक्रिया को स्वर काकु कहा जाता है। चूँकि काकु के इस प्रकार का जन्म स्वरान्तर के द्वारा होता है इसीलिए इसे स्वरजा- अर्थात् जो स्वर से जन्म ले अर्थात् स्वरजा काकु कहते हैं।

2. राग काकु- रागजा काकु के अंतर्गत कहा गया है कि

या रागस्य निजच्छाया रागकाकुं तु तां विदुः।।[5]

अर्थात् राग की जो अपनी व्यक्तिगत छाया होती है उसी को राग काकु कहते हैं। प्रत्येक राग में राग की अपनी कुछ विशेष रागवाची क्रियाऐं होती हैं जिनसे राग की पहचान स्पष्ट होती है इन रागवाची क्रियाओं को राग काकु के ही द्वारा संपन्न किया जा सकता है। इस काकु के अंतर्गत राग की सभी प्रकार की विशेष क्रियाओं को शामिल किया जा सकता है जिसमें स्वर का लगाव, अल्पत्व या बहुत्व आदि सभी तत्व आ जाते हैं। उदाहरणार्थ- भीमपलासी में मग सरि स। इस प्रकार अवरोह में गान्धार पर रिषभ का कण शंकरा में और अवरोह में रिषभ पर षड्ज का कण भीमपलासी में रागवाची क्रिया है जो कि राग काकु के ही द्वारा संपन्न की जा सकती है। निष्कर्षतः राग की रागवाची क्रियाओं को संपन्न करने में कंठ ध्वनि में जो विकार उत्पन्न होता है उसे राग काकु कहते हैं। चूँकि काकु के इस प्रकार का जन्म राग की रागवाची क्रियाओं के माध्यम से होता है इसीलिए इसे रागजा काकु अर्थात् जिसका जन्म राग के द्वारा हो कहते हैं।

3. अन्य राग काकु- अन्य रागजा काकु के संबंध में संगीत रत्नाकर में कहा गया है कि

सा त्वन्यरागकाकुर्या रागे रागान्तराश्रया।[6]

अर्थात् किसी राग में रागान्तर अर्थात् राग परिवर्तन की जो प्रक्रिया होती है वह अन्य राग काकु के अंतर्गत आती है। दक्षिण भारतीय संगीत में राग माला के गायन के संदर्भ में अन्य राग काकु की प्रक्रिया को बहुत अच्छी तरह समझा जा सकता है जिसमें कलाकार विभिन्न रागों का गायन एकसाथ करता है तथा जब वह एक राग से दूसरे राग में प्रवेश करता है तो उसे स्वरों के लगाव आदि का ढंग भी परिवर्तित करना पड़ता है। इसे ही अन्य राग काकु कहते हैं।[7] उत्तर भारतीय संगीत में भी किसी राग में किसी दूसरे राग की छाया दिखाई देना भी अन्य राग काकु के अंतर्गत ही आता है। सामान्य स्वरावली वाले रागों में कई बार ऐसी स्थिति आती है कि जिस राग का प्रस्तुतिकरण हो रहा है उसके अलावा भी किसी और राग की भी छाया दिखाई देने लगती है। यह प्रक्रिया कई बार तो अनायास होती है तथा कई बार सप्रयास भी होती है जिसे संगीत में आविर्भाव और तिरोभाव की प्रक्रिया के द्वारा अभिव्यक्त किया जाता है। निष्कर्षतः संगीत में राग परिवर्तन के समय कंठ ध्वनि में जो विकार उत्पन्न होता है उसे अन्य राग काकु कहते हैं। क्योंकि काकु के इस प्रकार का जन्म रागान्तर के द्वारा होता है। इसीलिए इसे अन्य रागजा कहा गया है।

4. देश काकु- देश काकु के संबंध में कहा गया है कि

सा देशकाकुर्या रागे भवेद्येशस्वभावतः।।[88]

अर्थात् देश काकु वह होती है जो राग में देश के प्रभाव से उत्पन्न होती है।

कुछ विद्वान जैसे कोलित्स तथा हाइनरिख आदि का मानना है कि जलवायु का प्रभाव मनुष्य के केवल शारीरिक गठन पर ही नहीं पड़ता बल्कि उसके चरित्र एवं ध्वनि पद्धति पर भी स्पष्ट रूप से पड़ता है। पहाड़ी भागों अथवा मरूभूमि के निवासी जैसे अफगानी, पंजाबी, राजस्थानी आदि कठिन जीवन शैली के कारण अधिक मेहनती होते हैं जिसके कारण उनका शरीर दृढ़ तथा सुगठित होता है। स्वभावतः इसका प्रभाव उनके शरीर, चरित्र, भाषा, तथा कला दृष्टि पर भी पड़ता है। उनकी भाषा तथा संगीत आदि में पौरूष स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। जबकि जो समतल मैदान के निवासी हैं जैसे बंगाली आदि तथा जहाँ जीवनशैली में श्रम की बहुत अधिकता नहीं होती उनके व्यक्तित्व में एक प्रकार की कोमलता देखी जाती है जो उनके संगीत में भी परिलक्षित होती है। मनुष्यों में ही नहीं बल्कि पशु-पक्षियों तथा वनस्पति आदि के विकास में भी भौगोलिक परिस्थितियों का स्पष्ट रूप से प्रभाव देखा जा सकता है। यदि जलवायु का असर मनुष्येतर जातियों में इतना स्पष्ट होता है तो मनुष्य का ध्वनि तंत्र भी भौगोलिक परिस्थितियों से अवश्यंभावी रूप से प्रभावित होता है। पंडित बलवंतराय भट्ट 'भावरंग' ने भी यह बताया है कि देश काकु लोक संगीत में अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट रूप से दिखाई देती है।[9] शास्त्रीय संगीत में भी कलाकार के कंठ पर देश का प्रभाव आसानी से ही दिख जाता है परंतु शास्त्र सम्मत होने के कारण शास्त्रीय संगीत पे यह प्रभाव लोक संगीत की अपेक्षा प्रयासपूर्वक ही देखना पड़ता है। निष्कर्षतः देश परिवर्तन के साथ मानव के कंठ ध्वनि में जो स्वाभाविक भिन्नता अथवा विकार आ जाता है वहाँ देश काकु होती है। चूँकि काकु का यह प्रभाव कलाकार की स्वेच्छा से ना होकर स्वाभाविक रूप से प्रभाव में आता है इसीलिए इसे देशजा ना कहकर केवल देश काकु ही कहा गया है।

5. क्षेत्र काकु- क्षेत्र काकु के संदर्भ में संगीत रत्नाकर में कहा गया है-

शरीरं क्षेत्रमित्युक्तं प्रतिक्षेत्रं निसर्गतः।
रागे नानाविधा काकुः क्षेत्रकाकुरिति स्मृता।।[10]

अर्थात् प्रत्येक कलाकार के शरीर में अथवा कंठ में उसकी अपनी कुछ स्वाभाविक विशेषताऐं होती हैं जिसके कारण हर कलाकार की आवाज को एक विशेष अनोखापन (Uniqueness) प्राप्त होती है इसे ही क्षेत्र काकु कहा गया है। क्षेत्र से अभिप्राय मनुष्य के शरीर से ही है। हर मनुष्य का कंठ स्वर बोलते समय एवं गायन के समय अलग-अलग सुनाई देता है तथा कई बार एक ही राग को दो अलग-अलग कलाकारों के द्वारा प्रस्तुत करने पर श्रोताओं पर पड़ने वाला प्रभाव भी अलग-अलग होता है इसी कारण इसे भी काकु के ही अंतर्गत रखा गया है। निष्कर्षतः मनुष्य के कंठ की जो अपनी स्वाभाविक विशेषताऐं होती हैं जिससे उसके आवाज की पहचान होती है उसे ही क्षेत्र काकु कहा गया है। चूँकि क्षेत्र काकु की प्रक्रिया भी सब प्रयास ना होकर निष्प्रयास ही होती है इसीलिए इसे भी क्षेत्रजा ना कहकर क्षेत्र काकु ही कहा गया है।

6. यन्त्र काकु- यन्त्र काकु के संदर्भ में कहा गया है कि

वीणावंशादियन्त्रेत्था यन्त्रकाकुः सतां मता।[11]

अर्थात् वीणा, सितार तन्त्र वाद्य आदि की ध्वनियों में जो भिन्नता होती है वह यन्त्र काकु के अंतर्गत आती है। काकु का यह प्रकार मानव कंठ से संबंधित ना होकर सांगीतिक वाद्ययंत्रों से संबंधित है। वस्तुतः प्रत्येक वाद्ययंत्र की अपनी विशेष ध्वनि होती है जिसके द्वारा उसकी पहचान दूसरे वाद्ययंत्रों से अलग होती है। जिसे अंग्रेजी में टिंबर कहते हैं। यह भी कई बार भाव परिवर्तन की कारक होती है अर्थात् एक ही राग दो अलग-अलग वाद्यों पर श्रोताओं पर अलग-अलग प्रभाव उत्पन्न करता है। उदाहरणार्थ- राग पहाड़ी बांसुरी अथवा संतूर पर जितना प्रभावी होता है उतना शहनाई पर नहीं। अतः स्पष्ट है कि वाद्ययंत्रों की अपनी स्वाभाविक ध्वनि भी राग को प्रभावित करती है इसीलिए इसे भी काकु के ही अंतर्गत रखा गया है। निष्कर्षतः वाद्ययंत्रों की ध्वनि के परिवर्तन से राग के प्रभाव में जो परिवर्तन आता है वह यंत्र काकु कहलाता है। चूँकि काकु का यह प्रकार भी संगीत पर निष्प्रयास

ही परिलक्षित होता है इसीलिए इसे भी यन्त्रजा ना कहकर केवल यन्त्र काकु ही कहा गया है।

निष्कर्ष- निष्कर्षतः यही कहा जा सकता है कि काकु श्रव्य माध्यम से ग्रहण की जाने वाली कलाओं में भावाभिव्यक्ति का बहुत ही सशक्त माध्यम होती है तथा हर कलाकार को इसकी विस्तृत तथा सूक्ष्म जानकारी होना परम आवश्यक है तभी वह अपनी कला के द्वारा सफल भाव सम्प्रेषण करने में सक्षम हो सकता है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

[1] शर्मा, प्रो. देवेन्द्रनाथ, ब्रजभाषा की विभूतियाँ, मोतीलाल बनारसीदास प्रकाशन, बाकीपुर, पटना, संस्करण- 1965, पृ.सं.33

[2] लाला भगवानदीन, अलंकार-मंजूषा, रामनारायण लाल प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण- 1948, पृ.सं.37

[3] शुक्ला, डॉ. मधुरानी, 'काकु' का सांगीतिक विवेचन, पाठक पब्लिकेशन, इलाहाबाद, संस्करण- 2003, पृ. सं.5

[4] शुक्ला, डॉ. मधुरानी, 'काकु' का सांगीतिक विवेचन, पाठक पब्लिकेशन, इलाहाबाद, संस्करण- 2003, पृ. सं.5

[5] शुक्ला, डॉ. मधुरानी, 'काकु' का सांगीतिक विवेचन, पाठक पब्लिकेशन, इलाहाबाद, संस्करण- 2003, पृ. सं.5

[6] चौधरी, सुभद्रा, शारंगदेव कृत संगीतरत्नाकर (द्वितीय खण्ड), राधा पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, संस्करण- 2002, पृ.सं.150

[7] प्रो. के. शशि कुमार, गायन विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से प्राप्त साक्षात्कार के आधार पर

[8] चौधरी, सुभद्रा, शारंगदेव कृत संगीतरत्नाकर (द्वितीय खण्ड), राधा पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, संस्करण- 2002, पृ.सं.150

[9] शुक्ला, डॉ. प्रेमलता, पत्रिका 'सम्वाद', संगीत एवं मंच कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, पृ.सं. 41

[10] चौधरी, सुभद्रा, शारंगदेव कृत संगीतरत्नाकर (द्वितीय खण्ड), राधा पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, संस्करण- 2002, पृ.सं.150

अवधी पारम्परिक लोक संगीत

डॉ. रामशंकर*

अशोक कुमार**

सार

भारतीय संस्कृति में लोकसंगीत की परम्परा प्राचीन समय से चली आ रही है। अवधी लोकसंगीत की परम्परा भारत में अत्यन्त प्राचीन है। संभवतः सृष्टि के आरम्भ से ही इसकी परम्परा रही है। लोकगीतों का हमारे बीच प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद में उपलब्ध होता है। प्राच्य साहित्य में जिन गाथाओं का उल्लेख है, उन्हें लोकगीतों का पूर्व प्रतिनिधि कहा जा सकता है। किसी भी लोकसंगीत पर उप भौगोलिक स्थान पर संस्कारों का विशेष प्रभाव पड़ता है जिसे मानव ने बिना किसी नियम एवं सिद्धान्त के अपने मनोभावों को प्रकट करने के लिए सहज एवं रूप से गाया और सीधी-साधी सरल धुनों एवं साहित्य ने समाज यानि लोक को सहज रूप से अपनी और आकर्षित किया।

हमारा लोक संगीत क्षेत्रीय भाषाओं पर आधारित होता हैं। जिसमें राष्ट्रभाषा से हटकर उस क्षेत्र मे रहने वालों लोगों में बोली जाने वाली स्वभाविक भाषा पर आधारित है। जैसे हिन्दी, बनारसी, अवधी, भोजपुरी, ब्रज, मैथिली।

सूचक शब्द -लोक संगीत, प्राच्य, अवधी भाषा, स्वाभाविक भाषा, राष्ट्र भाषा, ऋग्वेद,।

प्रस्तावना

अवधी परम्परिक लोकसंगीत में अवध क्षेत्रों में अवधी का विशेष स्थान है। अवध प्रदेश में बोली जाने के कारण इस भाषा का नाम अवधी पड़ गया है। इसे पूर्वी हिन्दी के नाम से भी अभिहित किया जाता है, क्योंकि यह हिन्दी प्रदेश के पूर्वी भाग में बोली जाने वाली भाषा भाषा है इसके ठीक विपरीत ब्रज को पश्चिमी हिन्दी की संज्ञा दी जाती है क्योंकि यह पश्चिमी में प्रचलित है। अवधी को कोसली भी कहते है। अवधी भाषा क्षेत्र के उत्तर में नेपाल, पूर्व में भोजपूरी भाषा प्रदेश, दक्षिणी में बघेली और पश्चिम में बुन्देली तथा कन्नौजी के क्षेत्र है। अवधी भाषा भाषी प्रदेश लगभग पैतीस हजार वर्गमील में फैला हुआ है। उत्तर प्रदेश के कुल जिलों के एक चौथाई से अधिक जनपदों में अवधी का विस्तार पाया जाता है।[1]

'लोक' शब्द संस्कृत के 'लोकदर्शन' धातु में 'घञ्' प्रत्यय लगाकर बना है, जिसका अर्थ है- देखने वाला। साधारण जनता के अर्थ में इस शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर हुआ है।

अवधी लोकसंगीत मानव के दिल दिमाग में मनोरंजन, संस्कारों, धार्मिक, पर्वों, उद्योग तथा श्रम, जातिगत आदि।

डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल के शब्दों में ''लोक हमारे जीवन का महासमुद्र है, जिसमें भूत, भविष्य और वर्तमान संचित हैं। अर्वाचीन मानव के लिए लोक सर्वोच्च प्रजापति है।''[2]

लोकगीतों को मात्र ग्रामगीत कहकर उनकी व्यापकता कम नहीं छोड़कर नगरों और महानगरों की सीमा को छू रहे हैं। हिन्दी साहित्य कोष में 'लोक गीत' शब्द के तीन अर्थ किये गये हैं-

(1) लोक में प्रचलित गीत,

(2) लोकनिर्मित गीत तथा

**शोध छात्र, गायन विभाग संगीत एवं मंचकला संकाय काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

*शोध निर्देशकअसिस्टेंट प्रोफेसर, गायन विभाग संगीत एवं मंचकला संकाय काशी हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी

(3) लोक विषयक गीत।

किन्तु वास्तव में लोकगीत का तात्पर्य लोक में प्रचलित गीत ही हैं, जिसे दो अर्थ दिये जा सकते है- (1) विशेष के प्रचलित गीत तथा (2) परम्परागत गीत। लोकगीत संगीत हमारे जीवन विकास की गाथा हैं। उनमें जीवन के सुख-दुःख मिलन विरह, उतार-चढ़ाव की भावनाएँ व्यक्त हुई हैं। सामाजिक रीति एवं कुरीतियों के भाव इन लोकगीतों में है। इनमें जीवन की सरल अनुभूतियों एवं भावों की गहराई है। श्री देवेन्द्र सत्यार्थी का कहना है कि लोकगीत का मूल जातीय संगीत में है।[3]

लोकगीतों का विस्तार कहाँ तक है, इसे नहीं बता सकता किन्तु इनमें सदियों से चले आ रहे धार्मिक विश्वास एवं परम्पराएं जीवित हैं। ये हृदय की गहराइयों से जन्में हैं। श्रुतिपरम्परा से ये अपने विकास का मार्ग बनाते रहे हैं। अतः इनमें तर्क कम, भावना, अधिक है। न इनमें छन्द शास्त्र की श्रृंखला है, न अलंकारों की बोझिलता। लोकगीतों का सबसे बड़ा गुण यह है कि इनमें सहज स्वाभाविकता एवं सरलता है। इनमें सुख-दुःख, प्रेम और करण के विविध रंग है। कहीं पुत्र-जन्म के अवसर पर हर्ष-उल्लास के स्वर गुँजते हैं तो कहीं कन्या की विदाई या प्रियवियोंग की बेला में करूणा के गीत मुखर होते हैं। अवधी लोकसंगीत में विभिन्न प्रकार की शैलियाँ गायी जाती हैं। जैसे संस्कार गीत, जन्म के गीत, सोहर गीत, मंगल गीत, सरिया गीत, विवाह गीत,

ऋतु गीत

वर्षाऋतु के गीत, धोबिया, कजरी, बारहमासा, सावनी गीत, बरसाती रसिया, झूला या हिडोला, आल्हा, होली, वसंतगीत, वृत एवं त्यौहारों के गीत जाति के गीत, श्रम गीत, बाल गीत, नृत्य गीत, रस के गीत, धार्मिक भावना के गीत, विविध गीत, झूमर, विदेसिया आदि शैलियाँ गायी या बजाई जाती है।

(1) लोकसंगीत के विविध अभ्यास।

(2) अवधी लोकसंगीत में रागों का अभ्यास लोक संगीत का उपचारों का अभ्यास

अवधी की उपबोलियाँ डॉ. बाबूराम सेक्सेना के अनुसार अवधी की तीन विभाषाये है। (1) पश्चिमी अवधी (2) केन्द्रीय अवधी और पूर्वी अवधी। पश्चिमी अवधी के अन्तर्गत निम्नलिखित जिले हैं। (तिवारी भोजपुरी भाषा और साहित्य पृ. 148)

(1) खीरी (लखीमपुर) (2) सीतापुर (3) लखनऊ (4) उन्नाव तथा (5) फतेहपुर। केन्द्रीय अवधी में (6) बहराइच (7) बाराबंकी तथा रायबरेली की गणना की जाती है। इसी प्रकार पूर्वी अवधी में (9) गोंड़ा (10) फैजाबाद (11) सुल्तानपुर (12) प्रतापगढ़ (13) इलाहाबाद (14) जौनपुर और (15) मिर्जापुर के जिले आते है। इसके अतिरिक्त नेपाल की तराई के कुछ भागों में अवधी बोली जाती है। अवधी की एक अन्य उपबोली बौसबाड़ी के नाम से प्रसिद्ध है जो बैसवाड़ा में बोली जाती है। बैसवाड़ा के केन्द्र उन्नाव जिला तथा उसके आस-पास का प्रदेश समझना चाहिए।[4]

अवधी वस्तुतः जिस क्षेत्र की भाषा है, भारतीय इतिहास के उसका अत्यधिक महत्व है। प्राचीन काल में यह प्रदेश कोश के नाम से प्रसिद्ध था और साकेत-वर्तमान अयोध्या इसकी राजधानी थी। भगवान बुद्ध के काल में प्रचलित षोड़स महाजनपदो में मगध और काशी के साथ-साथ कोशल की भी गणना की जाती थी। अतः यह एक सुप्रसिद्ध महाजनपद था। बुद्ध ने अपना अधिकांश समय श्रीवस्ती (गोंडा जिला) तथा कोशल राज्य में व्यतीत किया।[5]

लोकगीत वे गीत है जिनका प्रधान तत्व गेयता है। इनका कथानक अत्यन्त अल्प अथवा नहीं के बराबर होता है। लोक गाथाओं में कथानक अथवा कथा-वस्तु की ही प्रधानता होती है।

लोक-जीवन में प्रायः स्त्रियों को ऐसा अवकाश नहीं रहता, जिसमें कि वे परस्पर सुख-दुःख की बातें कर सकें। सामूहिक श्रम के दौरान ही उन्हें ऐसे क्षण मिलते है। जब वे मनोविनोद और मनोव्यथा की बातें प्रकट कर सकें। ये श्रम-गीत मनोवैज्ञानिक रूप में परोक्षतः उन्हें मानसिक शांति प्रदान करते हैं। ग्रामीण महिलाओं के मन में घुटन और कुठाएँ इन गीतों के कारण ही कम पनप पाती हैं, इसीलिए वे जटिल मानसिता का शिकार नहीं बन पातीं, जो आज की सुसंस्कृत महिलाओं की प्रमुख समस्या है।[6]

लोकगीत इस बात के साक्षी है कि आदिमानव-युग से ही किस प्रकार वृक्ष, नदी, पशु और पृथ्वी माता की इष्टदेव के रूप में पूजा होती रही। वन देवी तो सभी निराश हृदयों में आशा का संचार करके मनोवांछित फल प्रदान करती रही है। धरती माता की गोद में पलने वाला धरती-पुत्र धरती के सुफल को भोगकर, उसकी महिला का गुणगान विभोर होकर करता है। प्रकृति ही उसकी सारी आवश्यकताओं को पूरा करती है, अतः प्रकृति की पूजा स्वाभाविक है।

प्रकृति पूजा के गीतों में वृक्ष, नदी, बादल, पशु, तथा अन्य जीवों से संबधित गीत हैं।

वृक्ष तो मानव और पशु-पक्षी एवं अन्य जीवन-जंतु सभी के चिर सहचर हैं। वृक्षों से क्षुधा पूर्ति, वस्त्र और निवास, यातायात के साधन, सभी सुविधाएँ प्राप्त होती है। स्वाभाविक हैं कि वृक्षों के प्रति हमारी भावनाएँ सम्मान और श्रद्धायुक्त हों अतः लोक-जीवन में वृक्ष पूजे जाने लगे। उनमें कुछ वृक्षों का तो विशेष महत्व है।[7] संगीत की उत्पत्ति लोक संगीत के रूप में उत्पत्ति हुई होगी। जैसे पशु-पक्षियों, पत्थरों, झरनों, देवी- देवताओं, बच्चे के चिल्लाने आदि से संगीत की उत्पत्ति हुई होगी।

सावन

''बरिन बरिन जल चुए, खोरिन कॉदव कीच।
कवने निरमोहिया के धियवा, ससुरे में सावन होय,
लोगों रे महीना सावन का।''
''मीरवा बोल सारी राव, रात पिया नदि न आवै।
बागा भी बोले, बगइचा भी बोलै,
आरे बोले निबुलवा की डारि
रात पिया नीद न आवै।''[8]

इस प्रकार कजली नामक गीतों का वर्ण्य विषय संभोग श्रृंगार है। इन गीतों में श्रृंगार रस लबालब भरा रहता है जिसे कितना भी पान किया जाय तृप्ति नहीं होती। किसी गीत में हे हरी या रे हरी की अन्त में पुनरावृत्ति पायी जाती है। जैसे-

''रे रामा, बाबा के सागरबा मोरवा बोलह रे हरी-टेक
हरे रामा, मोखा के सबदिया सुनके जियरा घबड़ाये रामा,
हरे रामा, बपई पंछी देह दे मोर गवनवा रे हरी।।1।।
हरे रामा, एसऊँ के सावनवा बेदी, खेलउ न कजरिया रामा,
हरे रामा, आगे अगहन मॉ देबह तोर गवनवा हे हरी।''[9]

इस प्रकार से अवधी का पारम्परिक लोक संगीत बहुत बड़ा क्षेत्र है। अवधी लोक संगीत विभिन्न रागों व तालों में गाया या बजाया जाता है। जैसे

(1) खमाज (2) पहाडी (3) काफी (4) बिलावल (5) तिलंग (6) गारा (7) झिंझोटी (8) सारंग (9) तिलक कामोद (10) पीलू आदि रागों में अवधी लोक संगीत गाया या बजाया जाता है। लोकगीतों में ताल वाद्य इस प्रकार है। जैसे- मादल, ढोलक, नगाड़ा, नौबत, डफ, डमरू, खॅजडी।

ताल-वाद्य सारंगी, इकतारा, सितार और सुषिर वाद्य-बॉसुरी, बीन, शहनाई शंख आदि हैं। उत्तर प्रदेश के पूर्वी जिलों में लोक संगीत में प्रयुक्त होने वाले वाद्यों में ढोलक, खंजरी, सारंगी, झॉझ, करताल, और जोड़ी मुख्य है। स्पष्ट है कि लोकगीतों में शास्त्रीय संगीत संपूर्णता के साथ न होने पर भी स्वर, थाठ, राग, तालों की समानता है। शास्त्रीय संगीत पर उसका प्रभाव सर्वमान्य है।

लोकगीत किसी भी प्रदेश के हों, उनमें समान भावधारी समान सांस्कृतिक तत्व, समान धार्मिक भावना एवं समान सौन्दर्यानुभूति होती है। लोकगीतों में निहित साहित्य एवं संगीत का रसास्वादन समान रूप से विभिन्न प्रदेश के लोग करते है।[10]

निष्कर्ष

मनुष्य को जीवन से लेकर मृत्यु तक लोक संगीत साथ देता है। मानव जीवन में लोकसंगीत हर पल में साथ रहता है। अवधी की लोक शैलियाँ विभिन्न प्रकार से गाई जाती है। सोहर कजरी, सावन गीत, नकटा, नौंटकी, बिरहा, भोजपुरी लोक संगीत रामलीला, विवाह गीत, चैता, बन्ना बन्नी, मंगल गीत, गारी आदि शैलियाँ रागों में व तालों। में गाई या बजाई जाती है। मनुष्य को अपने मन को चंचल बनाने के लिए लोकसंगीत सुनना बहुत जरूरी है। हमारा अवधी लोकसंगीत लोक भाषाओं और बोलियों पर आधारित होता है। अवध के बड़े-बड़े कलाकार गाने वाले प्राचीन समय से गाते आ रहे है।

निष्कर्ष यह निकलता है कि हजारों सालों से लेकर आज तक हमारा अवधी लोक संगीत जीवित है। उसका कारण है गीत में साहित्य का भाव विद्यमान है।

संदर्भ सूची

1. द्विवेदी, आचार्य हजारी प्रसाद, अवधी लोक-गीत, भारतीय लोक-संस्कृति शोध-संस्थान, वाराणसी, 1978, पृ. 1
2. जैन, डॉ. शान्ति, लोकगीतों के संदर्भ और आयाम, विश्वविद्यालय प्रकाशन, चौक, वाराणसी, प्रथम संस्करण 1964, पृ. 1
3. वही, पृ. 2
4. द्विवेदी, आचार्य हजारी प्रसाद, अवधी लोक-गीत, भारतीय लोक-संस्कृति शोध-संस्थान, वाराणसी, 1978, पृ. 2
5. वही, पृ. 3
6. सिंह, डॉ. विद्या बिन्दु, अवधी लोक-गीत विरासत, ज्ञान-विज्ञान एजूकेयर 3639, प्रथम तल, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, प्रथम संस्करण 2016, पृ. 69
7. सिंह, डॉ. विद्या बिन्दु, अवधी लोकगीत साहित्य में प्रकृति पूजा, विद्या विहार, 1660 कूचा दखनीराय, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, संस्करण 2017, पृ. 35
8. द्विवेदी, आचार्य हजारी प्रसाद, अवधी लोक-गीत, भारतीय लोक-संस्कृति शोध-संस्थान, वाराणसी, 1978, पृ. 12
9. वही, पृ. 13
10. जैन, डॉ. शान्ति, लोक गीतों के संदर्भ और आयाम, विश्वविद्यालय प्रकाशन, चौक, वाराणसी, प्रथम संस्करण 1964, पृ. 11
11. चौधरी, सुभद्रा, शारंगदेव कृत संगीत रत्नाकर (द्वितीय खण्ड), राधा पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, संस्करण-2002, पृ.सं.151

उत्तर प्रदेश के लोक गीत

अजीत कुमार*, डॉ. के.ए. चंचल**

सार-

उत्तर प्रदेश भारत के अन्य प्रदेशों से क्षेत्रफल तथा जनसंख्या तुलना में बड़ा राज्य है। प्राचीन काल से लेकर अब तक के समय में उत्तर प्रदेश कला, संस्कृति, विद्या, शोर्य, आध्यात्म इत्यादी सभी मानवोचित गुणों का केन्द्र बिन्दु रहा है। सभ्यता की स्थाई सफलताओं की संरक्षिका ललित कला ही रही है। अतः उत्तर प्रदेश में उच्चकोटि के संगीत विद्वान् हुए है। भारत में यह प्रदेश भारतीय संस्कृति और कला के साथ ही साथ अन्य सभी के विकास का स्थल रहा है। उत्तर प्रदेश में विभिन्न समाज के लोग रहा करते है इन सभी की अपनी अपनी विशेषता है और ये सभी अपने अपने रीति-रिवाज, सुख-दुःख, त्यौहार, संस्कारों तथा कर्म को अपने हृदय गीत अर्थात् लोक गीत के माध्यम से व्यक्त करते हैं। इन लोक गीतों की बड़ी ही महत्ता है। जिसके कारण वह अपने संस्कारों एवं संस्कृति में बंधे रहते है।

सूचक शब्द- उत्तर प्रदेश, लोक संगीत, संगीत, संस्कृति, गीत।

प्राचीन काल में गंगा के मैदान में स्थित उत्तर प्रदेश का क्षेत्र मध्य देश के नाम से जाना जाता था। मध्य देश (आधुनिक रूप में उत्तर प्रदेश) में कुरू, पांचाल, काशी, कोशल, शूरसेन, चेदि, वत्स तथा मल्ल महाजनपद सम्मलित थे। उत्तर वैदिक संस्कृति का मुख्य केन्द्र मध्य देश यानि उत्तर प्रदेश था। जो कि वर्तमान में भी इसे स्थापित किये हुए है।[1]

उत्तर प्रदेश सदैव से ही संस्कृति, धर्म तथा राजनीतिक गतिविधियों का प्रमुख केन्द्र बिन्दु रहा है। जग जाहिर है आर्यों के आगमन से आज तक धर्म, राजनीति और संस्कृति इत्यादि के क्षेत्रों में जितना उथल-पुथल उत्तर प्रदेश ने देखे उतने किसी और राज्य प्रदेश को नहीं देखने पड़े। उत्तर प्रदेश प्राचीन काल से ही संगीत, शिल्प कला, चित्रकारी के अलावा धातुओं, लकड़ी, हाथी दांत, पत्थर और मिट्टी पर दस्तकारी की कला अति प्रिय रही है। हमारे भारतीय विद्वानों ने कलाओं को 5 वर्गों में विभाजित किया है जिसमें संगीत कला को सर्वश्रेष्ठ माना गया है। किसी भी कला का निर्माण व्यक्ति के भाव एवं उसकी अनुभूति से होता है जो कि किसी न किसी रूप में हमारे सामने उत्पन्न होता है। दूसरे शब्दों में कहे तो जिस समाज परिवेश में व्यक्ति रहता है उसका एक-दूसरे के प्रति रवैया, उनका परस्पर व्यवहार, आदतें तथा वे किस तरह जीवन से जुड़े विभिन्न पहलुओं का आन्नद लेते है वे सभी बातें उसके कला व संस्कृति को जन्म देते है।

'लोक' शब्द संस्कृत के 'लोक दर्शने' धातु से 'घञ्' प्रत्यय संलग्न करने पर निष्पन्न हुआ है। इस धातु का अर्थ देखना होता है, जिसका लट् लकार से अन्य पुरूष एकवचन का रूप 'लोकते' होता है। अतः लोक शब्द का अर्थ हुआ 'देखने वाला' ऋग्वेद में लोक के लिए 'जन' का भी प्रयोग उपलब्ध होता है। वैदिक ऋषि विश्वामित्र के द्वारा उच्चारित यह ब्रह्म मंत्र भारत की रक्षा करता है।[2]

---

*शोध छात्र

**शोध निर्देशक, गायन विभाग, संगीत एवं मंच कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

य इमे रोदसी उभे अहमिन्द्रमतुष्टयः।
विश्वामित्रस्य रक्षति ब्रह्मेदं भाजं जनम्।।
ऋग्वेद 3।53।12

सामान्य अर्थ में हम इस तरह से समझ सकते है जगत् में नाम एवं रूपमय जो कुछ भी दिखायी देता है वह लोक है। मनुष्य के समस्त कार्यों का स्त्रोत और क्षेत्र जीवन ही है। जीवन या लोक जीवन, मनुष्य की आदिम चेतना से आज तक का उसका विकासमान चेतना को खाद्य-सामग्री देता रहा। हमारी रचनात्मकवृत्ति को भी लोक जीवन से ही निरन्तर ऊर्जा मिलती रही है।

संगीत (सम्+गै+क्त) मिलकर गाया हुआ, सहगान, सम्मिलित कण्ठों से मिलकर गाया हुआ, गीतं वाद्यं व नृत्यं च त्रयं संगीतमुच्यते अर्थात् गायन, वादन एवं नृत्य इन तीनों के सम्मिलित स्वरूप को संगीत कहा गया है।[3] संगीत की परम्परा बहुत ही प्राचीन है तथा अन्य अनेक विधाओं की भाँति संगीत का भी उद्गम वेदों से हुआ है। यज्ञ के अवसर पर सामगान की प्रथा थी। धीरे-धीरे धार्मिक परिधि से निकलकर संगीत ने मुक्त वातावरण में प्रवेश किया। गीत के साथ वाद्यों का भी प्रयोग किया जाता रहा है। हमारा प्राचीनतम संगीत सामगान है जो वैदिक ऋचाओं का उदात्त, अनुदात्त व स्वरित आदि स्वरों के ऊपर-नीचे का मंत्र गान है।

सामान्यतौर पर हम संगीत को दो भागों में बाँट सकते है।

(1) भाव संगीत (2) शास्त्रीय संगीत[4]

भाव संगीत के अन्तगर्त उन सभी को हम रख सकते है जिसमें व्यक्ति के स्वच्छदंता उद्गार उसकी स्थिति जो वह महसूस कर रहा है उसे वह अपने मनोभाव से प्रकट करता है। इसमें किसी तरह का कोई बंधन नहीं रहता है। वह अपने मनोभाव के अनुसार उसका प्रदर्शन व विस्तार करता है। जैसे-लोक संगीत, भजन, कव्वाली, सुगम संगीत, फिल्मी गीत इत्यादी।[5]

शास्त्रीय संगीत- शास्त्रीय संगीत को हम नियमों से बद्ध मानते है। जिनको कठोरता से पालन करना होता है। संगीन के उन नियमों को संगीत शास्त्र अथवा संगीत का व्याकरण कहा जाता है। संगीत नियमित शास्त्रनुसार परिवेष्ठित होने पर शास्त्रीय संगीत कहलाता है। नियमों का कठोरता से पालन होने से यह सभी के लिए उस आनंद की प्राप्ति नहीं कर पाता। शास्त्रीय संगीत की परिभाषा हम इस प्रकार दे सकते है स्वर, ताल, राग लय आदि नियमों से आबद्ध होकर वैज्ञानिक रीति जिसे प्रस्तुत किया जाता है उसे शास्त्रीय संगीत की परिभाषा दी गयी है। जैसे- ध्रुपद, धमार, ख्याल इत्यादि।

लोक संगीत- संगीत का प्रधान गुण रंजकता है, वह शास्त्रीय और लोक संगीत दोनों में रहना आवश्यक होता है। लोक संगीत को साधारणतः दो भागों में बाँट सकते है। पहला शब्द तथा दूसरा धुन। इन्हीं दोनों के मेल से लोक संगीत की पहचान हो जाती है कि यह लोक संगीत किस स्थान का है।

लोक संगीत के संदर्भ में विभिन्न विद्वानों के मत निम्ननुसार है-

लोक संगीत में चराचर जगत् गाता है, नृत्य करता है - **महात्मा गांधी।**

आधुनिक जीवन को सुन्दर, समृद्ध और सुसम्पन्न बनाने में लोक संगीत ही सहायक सिद्ध होगा- **डा. राजेन्द्र प्रसाद।**

लोक संगीत द्वारा सामाजिक जीवन का कोश संचित हुआ है। जनसाधारण के स्वप्न और आनन्द, उद्देश्य और कल्पना सब कुछ लोक संगीत में से मुखरित होता है। **-डॉ. राधा कृष्णन।**

लोक संगीत में हमें उल्लास मिलता है और यह शिक्षा मिलती है कि जीवन का आनन्द केवल भौतिक पदार्थो की उपलब्धि में ही नहीं है- **जवाहरलाल नेहरू**

संस्कृति का सुखद सन्देश ले जाने वाली कला है लोक संगीत - **रवीन्द्रनाथ टैगोर।**

लोक संगीत के माध्यम से समस्त विश्व में मानवता, आत्मीयता और ऐक्य की स्थापना की जा सकती है- **ओंकारनाथ ठाकुर**

लोक संगीत ईश्वर प्राप्ति का सुगम साधन है उसकी पहुँच मनुष्य की आत्मा तक है- **रुक्मिणी अरुण्डेल।**

लोक जीवन की प्रत्येक दिशा संगीत से व्याप्त है, इसलिये प्रत्येक भारतवासी मुझे संगीतकार दिखाई देता है- **उदयशंकर**

भारतीय लोक संगीत में प्रेम, भक्ति, अनुराग तथा धर्म आदि मानव जीवन के सभी अवयवों का सन्निवेश है- **राम गोपाल**

हृदय की अनुभूतियां तरंगित होकर जब प्रकृति के मध्य बहने लगती है तो लोक संगीत का जन्म होता है- **निराला**

लोक संगीत भारतीय एकता को सुरक्षित रखने का एक मात्र शक्तिशाली माध्यम है- **राहुल सांकृत्यायन।**

जब गृह देवियां एकत्र होकर पूरे उन्माद के साथ लोकगीत गाती हैं तब उन्हें सुनकर चराचर के प्राण तरंगित हो उठते हैं - **राम नरेश त्रिपाठी**

मेरे विचारों का मूल मेरी जननी की प्रेम-पूर्ण लोरियां हैं- **जान्सन।**[6]

लोक गीतों के रचयिता कवि से अधिक गायक है। लोक गीतों की रचना के लिए किसी काव्यशास्त्र अथवा छन्दशास्त्र का ज्ञान होना आवश्यक नहीं है। वह स्वयं भाव तरंगों के अनुशासनहीन एवं अनियन्त्रित दबाव से उसकी मानस तन्त्री के तार झंकृत हो जिसे वह महसूस करते हैं। वह अनायास ही वाणी प्रदान करने के लिए अग्रणी हो उठता है। इसलिए लोक गीतों की रचना भाव विभोर होती है।

उत्तर प्रदेश में मुख्यतः हिन्दी, उर्दू, भोजपुरी, अवधी, मैथिली, सूर्यपुरिया इत्यादी भाषाओं में लोक गीत मिलते है। इन लोक गीतों में हम निम्न वर्गों में बाँट सकते है।

- संस्कार सम्बन्धी लोक गीत
- ऋतु सम्बन्धी लोक गीत
- व्रत सम्बन्धी लोक गीत तथा देवी देवताओं से सम्बन्धित लोक गीत
- जाति सम्बन्धी लोक गीत
- कर्म सम्बन्धी लोक गीत
- सामयिक गीत
- विविध गीत[7]

संस्कार सम्बन्धी गीत - सम्यक् क्रियते इति संस्कार, जीवन में व्यवस्था नियमितता एवं पवित्रता लाने के लिए संस्कार आवश्यक होता है। मानव जीवन में संस्कारों का अपना एक विशेष महत्व है। मनुष्य का सम्पूर्ण जीवन अनेक प्रकार के संस्कारों में बंधा हुआ है। संस्कार शब्द संस्कृत के सम् उपसर्गक 'कृ' धातु से प्रत्यय करने पर निष्पन्न होता है।

संस्कारों की संख्या- गौतम धर्म सूत्र में संस्कारों की संख्या चालीस मानी गयी है। परन्तु गृह सूत्रों में इनकी संख्या ग्यारह, तेरह और अठारह स्वीकार की गई है। अनेक विद्वानों के मतानुसार संस्कारों की स्वीकृत तथा प्रचलित संख्या सोलह है जिन्हें ''षोड़स संस्कार'' कहा जाता है।[8]

प्राचीन सनातन धर्म में सोलह संस्कारों को बताया गया है। महर्षि व्यास ने षोड्स संस्कारों को निम्न प्रकार से बताया है-

गर्भाधानं पुंसवन सीमन्तों जात कर्म च।
नाम क्रिया निष्क्रमणेत्रशनं वपन क्रिया।।
कर्णवेधो व्रतादेशो वेदरम्भ क्रियाविधः।।
केशान्तः स्नानमुद्वाहो विवाहाग्निपरिग्रहः।।
त्रेताग्निसंग्रहश्चेति संस्कारा शोड्षस्मृता।।

1. गर्भाधान 2. पुंसवन 3. सीमन्तोन्नयन 4. जातिकर्म 5. नामकरण 6. निष्क्रमण 7. अन्नप्राशन 8. चूड़ाकर्म 9. कर्णवेध 10 उपनयन 11. वेदारम्भ 12. समावर्तन 13. विवाह 14. वानप्रस्थ 15. सन्यास 16. अन्त्येष्टि।[9]

हिन्दू धर्म में इन सोलह संस्कारों में जन्म से लेकर मृत्य तक के गीत गाये जाते है। हर एक संस्कार के समय पर उस संस्कार संबंधी गीतों को गाये जाने की परम्परा है। इन सोलह संस्कारों में प्रमुख रूप से लोक संगीत की उपस्थिति को देखा जा सकता है। अतः जीवन का कोई पहलू कोई प्रसंग कोई भावना और कोई प्रवृत्ति इससे छूटने नहीं पाती। परन्तु मृत्यु अर्थात् अन्त्येष्टि संस्कार के समय प्रायः गीत नहीं गाये जाते केवल शिवनारायणी सम्प्रदाय में मृत्यु के समय और श्मशान जाते समय गाने बजाने का प्रचलन है। उस समय केवल निर्गुण गीत गाये जाते है।

1. गर्भाधान संस्कार- गर्भाधान संस्कार सम्बन्धित गीत स्त्री के गर्भाधान के समय गाया जाता है। यह संस्कार सन्तान प्राप्त हेतु सम्पन्न किया जाता है।

गीत-

कवन बने उपजेता कुसुम, कवना बने केसर हो
ललना कवना बने उपज गुलाब, चुनरिया हम रंगाईब हो॥
बाबा बने उपजेला कुसुम भईया बने केसर हो।
ललना सईया बने उपजे गुलाब त चुन्दरी रंगाईब हो।।

2. पुंसवन संस्कार- स्त्री द्वारा गर्भधारण के तीसरे, चौथे व आठवें माह के पुत्र प्राप्ति की इच्छा हेतु यह संस्कार किया जाता है।

गीत-

मोरे पिछुवरिया रे नीलवा के ढोतवा, कि नीले-नीले चमके अकास
ओही नीलवां रंगबो अपना सईया जी के पगिया से, इतर मंगइवो गुलाब।।
तोहरा के पियरि से पगरी रे भंटवा, भंटिनिया के चुनरि आ साल।
अनधन सोनवा भिखारिया के देबा, नचिहें पवरिया दे दे ताल।।

3. सीमन्तोत्रयन संस्कार- यह संस्कार गर्भवती स्त्री के रक्षा के लिए किया जाता है। जिससे गर्भवती स्त्री व सन्तान को किसी तरह परेशानी न होने पाये।

गीत-

सुतल में रहनी खटियावा, सपनवा एक देखिला हो।
सास्क सपना के करऽ ना विचार, सपना बड़ा सुन्दर हो।।
चम्पा फुलाइल का दुअरवा, चमेलिया ओसरवातु हो।
ललना फुलवा गुलबवा अँचरवा अँचरवा मोर गमकेला हो।।

उपयुक्त तीनों संस्कार गर्भाधान, पुंसवन व सीमन्तोत्रयन संस्कार संतान के जन्म के पूर्व किये जाते है।

4. जात कर्म संस्कार- यह संस्कार सन्तान के जन्म के उपरान्त होने वाला प्रथम संस्कार है। संस्कारों में सबसे पहले पुत्र प्राप्ति की कामना सबसे महत्वपूर्ण एवं आनन्दमयी मानी जाती है। पुत्र जन्म के अवसर पर गाये जाने वाले गीत सामान्यतः सोहर कहे जाते है। कुछ क्षेत्र में इन्हें 'सोहिला' भी कहते हैं जिसकी व्यत्पत्ति डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय 'शोभित' शब्द से मानते है।

गीत-

भादों रैन भयावन चहुंदिशि घन गरजे हो
ल्लना अष्टमी तिथि शुभ रोहिनी नक्षत्र शुभ हो
ललना, मंगल सोहर वधुविधि महले नाथ प्रकट हो भइले हो।

5. नामकरण संस्कार- यह संस्कार नवजात बच्चे के नाम रखने हेतु किया जाता है।

गीत-

आजू के दिनवा सुहावन, शुभ घड़ी आवन हो।
बाबा जल्दी जल्दी पतरा उधारी आ नामावा बिचारी नु हो।।

6. निष्क्रमण संस्कार- यह संस्कार नवजात शिशु के घर से बाहर निकाले जाने पर किया जाता है।

गीत-

सोने के दियरिया ने धीउवा रे जरवनी।
कजरा के परनी साठी रति।।
उहे रे जरवा ललनवा ऑखि लईनी।
कि घूमे जाई ललना हमार हो।।

7. अन्नप्राशन संस्कार- इस संस्कार के समय शिशु को अन्न खिलाया जाता है।

गीत-

सोने के कटोरी में खीर खालें।
बाबा के हथवा से खीर खालें।।
हॅसे किलकावे कबो ऑढी मटकावे।
होई के मगन मीठ खीर चटकावे।।

8. चूड़ाकर्म संस्कार- इस संस्कार में बच्चे के सिर के बाल प्रथम बार काटे जाते हैं। महाकवि कालिदास ने रघुवंशम् में मुण्डन संस्कार का उल्लेख किया है। इस संस्कार का दूसरा नाम चूड़ाकरण भी है। यह संस्कार बालक के जन्म के प्रथम तृतीय, पंचम अर्थात् विषम वर्ष में करने का विधान है।

गीत-

आरे आरे कवन राजा कहल कुछ मानहुँ हो।
बारह बरस के लाल भये तुहु मुंडन करावहु हो।।

9. कर्णविध संस्कार- यह संस्कार रोगादि से बचने व आभूषण धारण करने के उद्देश्य से होता है।

गीत-

गाँव के बाहरबा सोनरवा एक भईया हो,
उनके बोलाई लेहूँ आज हो।
बाबु के करा दी कर्णवेध संस्करवा हो,
कनवा छेदादि शुभ काज हो।

10. उपनयन संस्कार- जन्मना जायते शुद्रः संस्कारत् द्विज उच्यते अतः यज्ञोपवीत संस्कार को ब्राह्मण एवं क्षत्रिय में बहुत महत्व है। इन दोनों जातियों के लोग बड़े धूम से इस संस्कार को करते है। इस संस्कार को यज्ञोपवीत संस्कार भी कहा जाता है।

गीत-

किया लेबे बरुआ रे धोती रे पोथी, किया लेबे पीयर जनेव।
किया लेबे बरुआ रे सोबरन भिखिया, जाही धरे कान्हर जनेव।।

11. वेदारम्भ (विद्यारम्भ) संस्कार- यह संस्कार बच्चे के विद्या आरम्भ हेतु किया जाता है।

गीत-

पानवा जइसन बवुआ पातर हउवन,
फूलवा जइसन सुकुमार हउवन हो।
ए रामा सुरुज के जोत ना सहाई,
पढ़न कइसे काशी जइहें हो।।

12. समावर्तन संस्कार- यह संस्कार दीक्षान्त संस्कार है। इसमें संतान की शिक्षा पूरी होने पर किया किया जाता है। यह अधिकतम 25 वर्ष की आयु में किया जाता है।

गीत-

कासी गया पढ़ी-लिखी के अइले सुन्दर बरुआ जुड़ावे लगली ना।
भईया अपनी नयनवा, जुड़ावे लगली ना।

13. विवाह संस्कार- विवाह हमारा सबसे प्रसिद्ध तथा प्रधान संस्कार है। यह संस्कार बहुत उत्साह के साथ मनाया जाता है। सनातन धर्म के अनुसार जो मनुष्य अविवाहित है उसका जीवन अपूर्ण माना गया है। विवाह एक ऐसा अवसर है जिसमें वर तथा कन्या दोनों के घरों में आनन्द और उल्लास का वातावरण बना रहता है। विवाह संस्कार के अन्तर्गत वर तथा कन्या दोनों पक्षों में कई तरह के संस्कार गीत होते है।

वर पक्ष के गीत	**कन्या पक्ष के गीत**
तिलक के गीत	तिलक के गीत
सगुन के गीत	संझा के गीत
भतवानि के गीत	माँड़ो के गीत
माटी कोड़ाई के गीत	माटी कोड़ाई के गीत
लावा भुजाई के गीत	कलसा धराई के गीत
इमली घोटाई के गीत	हरदी के गीत
हरदी के गीत	लावा भुजाई के गीत
मत्री पूजा के गीत	मत्री पूजा के गीत
वस्त्रधारण के गीत	द्वारपूजा के गीत
मउर के गीत	गुरहत्थी के गीत
परछन के गीत	विवाह के गीत
डोमकक्ष के गीत	भाँवर के गीत
गोड़भराई के गीत	चूमने के गीत
कोहबर के गीत	द्वार रोकने के गीत
कंगन छुड़ाई के गीत	कोहबर के गीत
	परिहास या गाली के गीत
	भात के गीत
	वर उबटन के गीत
	माँड़ों खोलाई के गीत
	बारात विदाई के गीत
	कंगन छुड़ाई के गीत
	चौथारी के गीत

विवाह संस्कार के अन्तर्गत और भी कई गीत होते है तथा इनकों अलग अलग जगह पर किसी अन्य नाम से गाया जाता है।

वानप्रस्थ संस्कार-यह संस्कार भारतीय धर्म और संस्कृति का प्राण है। यह व्यक्ति को गृहस्थ आश्रम छोड़कर वनों में जाकर ईश्वर की उपासना हेतु बनाया गया है।

16. अन्त्येष्टि संस्कार- यह व्यक्ति के जीवन का अंतिम संस्कार है। जब व्यक्ति मर जाता है तो उसकी आत्मा के मोक्ष के लिए तथा उसके आत्मा को परमात्मा में मिल जाने की कामना किया जाता है। हिन्दू धर्म में मर जाने पर स्वर्ग प्राप्ति हो ऐसी सभी की इच्छा होती है।

गीत-

पिया पिया रटत पियर देहिया ने सखिया।
पिया मतालबवा के यार पिरित ला के भगले रे सखिया।।

2. ऋतु सम्बन्धी गीत - ऋतु सम्बन्धी गीतों में ऋतुओं का वर्णन होता है। हमारे भारतवर्ष में तीन तरह के ऋतुओं का वर्णन किया गया है। शरद ऋतु, ग्रीष्म ऋतु व वर्षा ऋतु। इन तीनों ही ऋतुओं का अपना अलग ही महत्व होता है। इन सभी ऋतुओं का मानव जीवन तथा वातावरण में अपना अपना प्रभाव दिखाई देता है। इन सभी ऋतुओं का आगमन एक चक्र की भांति होता है।

चैती - यह चैत्र मास महीने में इसका गायन होता है। इसे पुरूष व स्त्री अपने अपने खास तरीके से गाते है। इसे चेत, चैतावर, अथवा चैती भी कहा गया है।

गीत-

एहि ठइयाँ झुलनी हेरानी हो रामा एहि ठइयाँ
घरवा में खोजलीं, दुअरा पे खोजली खोजि अइलीं
सैंयाँ के सेजरिया हो रामा,

चैता- बसन्त में चैता की बहार आती है। नदि के किनारे, किसी मेले में, अमराई की शीतल छाया में, मन्दिर में जहाँ देखिये वहीं मस्त चैता गाने में तल्लीन दिखाई पड़ता है।

गीत-

रामा नदिया के तीरवा चनन गाछि बिरवा हो रामा।

3. व्रत सम्बन्धी तथा देवी देवता सम्बन्धी गीत- व्रत सम्बन्धी गीतों अधिकतर ईश्वर की आराधना की जाती है जिससे उनके कष्टों को दूर करें। जो भी जिस रूप में ईश्वर देवी देवता को मानता वह उनके संबंधी गीतों को गाकर उनकी पूजा करता है।

ऋतु सम्बन्धी गीत	व्रत सम्बन्धी तथा देवी देवता सम्बन्धी गीत
चैती, चैता, घाटो गीत	पचरा गीत
कजरी या कजली	वट् सावित्री व्रत गीत
बारहमासा गीत	तीज के गीत
झूला गीत	छठ पर्व के गीत
होरी या फाग गीत	श्यामा चकेवा के गीत
चौमासा गीत	नाग पंचमी के गीत
रसिया	बहुरा या बहुला गीत
	गोधन
	पिड़िया गीत इत्यादि

4. जाति सम्बन्धी गीत - जाति का आशय व्यक्ति के वर्ग से लिया गया है। भारतवर्ष में हर जाति के लोग रहते है उनमें आपसी भाईचारा तथा वह सभी के सुख दुख में सदैव साथ मिलकर रहते है।

5. कर्म सम्बन्धी गीत - कर्म सम्बन्धी गीत का आशय कर्म से लिया गया है। भारत देश कृषि प्रधान देश रहा है। कर्म सम्बन्धी गीत में अधिकतर खेती करते समय ही गीत गाया जाता है। कर्म सम्बन्धी गीत का आशय व्यक्ति के किसी न किसी काम को करते हुए उस काम सम्बन्धी गीत को गाते हुए करते है। जिससे वह काम सरल तथा मनोरंजन बन जाता है।

जति सम्बन्धी गीत	**कर्म सम्बन्धी गीत**
अहीरों जाति के गीत	खेत में घास काटते समय गीत
कहारों जाति के गीत	निराई के गीत
चमारों जाति के गीत	चक्की जाता के गीत
तेलियों जाति के गीत	फसल बोआई के गीत
गड़ेरियों जाति के गीत	फसल कटाई के गीत
धोबियों जाति के गीत	मुसल के गीत
दुसाधों जाति के गीत	
गोंड़ों जाति के गीत इत्यादी	

6. विविध गीत - कुछ इस तरह के भी गीत होते जो इन वर्गीकरण के अन्तर्गत नहीं आ पाते। इन गीतों में उस परिस्थिति का चित्रण होता है। जो स्त्री-पुरुष उस समय महसूस कर रहा होता है।

7. सामयिक गीत- सामयिक गीतों का अर्थ उन गीतों से लिया जाता है जो किसी कथा तथा किसी घटना के ऊपर होता है। इन गीतों में उस घटना का पूरा चित्रण तथा वर्णन किया गया रहता है। जिसे लोग गाकर उस घटना को सजीवता प्रदान करते है।

विविध गीत	सामयिक गीत
झूमर गीत	आल्हा गीत
अलचारी गीत	देश प्रेम गीत
पूरबी गीत	स्वतंत्रता संग्राम गीत इत्यादी
पराती गीत	रास गीत
लोरी गीत	
खेल के गीत	

नोट- समस्त गीत ''पूर्वी उत्तर प्रदेश के लोक गीतों में संगीत शास्त्रीयता'' पुस्तक से लिया गया है।

उत्तर प्रदेश में लोक गीतों का खजाना है। लोक गीतों का सम्बन्ध उस स्थान पर रहने वाले लोगों, वहाँ के भौगोलिक पर्यावरण का अधिक प्रभाव पड़ता है। वहाँ का धर्म, सामाजिक जीवन, रहन-सहन, कला-कौशल इत्यादी सभी चीजों का प्रभाव उस लोक गीतों पर पड़ता है। किसी भी लोक गीतों में भाषा का बहुत ही बड़ा महत्व होता है। कहा जाता है कि ''चार कोस पर पानी बदले आठ कोस पर बानी।'' लेकिन भाषा बदल जाने से उसकी आत्मा नहीं बदल सकती वह तो सिर्फ शब्द भाषा का परिवर्तन होता है उसकी धुन उसकी प्रकृति उसकी आत्मा एक सी ही रहती है। उसी से वह जीवित रहती है। उत्तर प्रदेश में इतने तरह के लोक गीत है जो कि किसी अन्य प्रदेश में शायद ही मिलते हो। इन सभी के साथ ही साथ इन सभी गीतों के जानकार लोग, गायक लोग इन गीतों को उस अवसर पर गाते है तथा उसका पूरा आनन्द लेते है। व्यक्ति लोक में ही जीता है और लोक में ही मर जाता है। व्यक्ति के जन्म लेने के उपरान्त मृत्यु के होने तक उसके प्रत्येक क्षण में लोक गीतों की उपस्थिति को देखा जा सकता है। यह लोक गीत उस मिट्टी की सुंगध लिये उसके जीवन को महकाती है। इन सबसे महत्वपूर्ण बात यह कि इन लोक गीतों का कोई व्यक्ति विशेष रचनाकार नहीं है वह लोक से लोक को मिल जात है। लोक गीत सामान्य जन की सृष्टि है जो अनजाने में हुई। लोक संगीत में कोई ऐसा नियम नहीं होता है जो उसकी भावाभिव्यक्ति में बाधा डाले। लोक गीत में काव्य सरल, सरल धुन, सरल भाषा में होते है। हर क्षेत्र का अपना लोक संगीत होता है।

निष्कर्ष-

वर्तमान समय में इन लोक गीतों को अपनाने में लोगों में कमी सी हो गयी है। कारण स्पष्ट है आधुनिकता के प्रचार में लोगों की आँखों में एक पट्टी सी बंध गयी है। वह सभी फिल्मी संगीत, पाश्चात्य संगीत के पीछे खुद को लगा दिये है। जिसके कारण हमारे लोक संगीत लोक गीत में कमी आ गयी है। लेकिन समाज के वाहक बुद्धि जीवी लोगों के अथक प्रयास से इन लोक गीतों में फिर से जीवितता लायी जा रही है। सरकार तथा कुछ स्वयं सेवी संस्थायें भी इस कार्य में रूचि दिखा रही है जिससे आने वाली पीढ़ी अपने लोक गीत को जाने और उनको आगे बढ़ाये। इसी कड़ी में ऑल इंडिया रेडियों के क्षेत्रीय केन्द्र अहम भूमिका निभा रहे है। उनके पास उस क्षेत्र विशेष के लोक कलाकारों का समन्वनय का भी कार्य कर रहे है। रेडियो स्टेशन और क्षेत्रीय दूरदर्शन केन्द्रों के बढ़ावे के चलते क्षेत्रीय लोक संगीत के कलाकार अपनी प्रतिभा समाज के सामने प्रस्तुत कर पा रहे है। उपरोक्त सभी का प्रयास लोक गीत, वाद्य, नृत्य इन तीनों के संरक्षण एवं संवद्धर्न के क्षेत्र में अहम् भूमिका निभा रहे है। लेकिन इतना काफी नहीं है हम सभी को मिलकर इसे सुरक्षित तथा संवर्द्धित करने की आवश्यकता है। हमारा उत्तर प्रदेश लोक गीतों का खजाना है जिसे हमे बचाना है और इन गीतों के प्रति आदर तथा सम्मान को बनाये रखना है।

संदर्भ ग्रंथ सूची-

- संगीत की तपोभूमि उत्तर प्रदेश, डॉ. मधुमिता भट्टाचार्य, पिलुग्रिम्स पब्लिशिंग, वाराणसी।
- उत्तर प्रदेश समग्र, लेखन व संकलन, राधा मोहन, सौरभ पटेल, के.बी.सी. ननो पब्लिकेशन, प्राईवेट लिमिटेड, नई दिल्ली।
- शिल्पायन संगीत लेखमाला, संकलन एवं सम्पादन संतोष कुमार, पिलुग्रिम्स पब्लिशिंग, वाराणसी।
- लोक साहित्य के विविध आयाम, डॉ. परवीन निज़ाम अंसारी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी।
- भारत के लोक नृत्य, प्रोफे. शरीफ मोहम्मद, मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल।
- ब्रज सलिला, संगीत विशेषांक, अक्टूबर 2010-मार्च 2011, वृंदावन शोध संस्थान, रमणरेती, वृन्दावन 281121
- माँ की लोरियाँ और संस्कार गीत, दीनानाथ साहनी, प्रभात प्रकाशन दिल्ली
- पूर्वी उत्तर प्रदेश के लोक गीतों में संगीत शास्त्रीयता, डॉ. रंजना त्रिपाठी, हिन्दुस्तानी एकेडेमी इलाहाबाद।
- भारतीय संगीत वैज्ञानिक विश्लेषण, प्रो. स्वतन्त्र शर्मा, अनुभव पब्लिशिंग हाउस इलाहाबाद।
- हिन्दुओं के रीति-रिवाज तथा मान्यताएँ, डॉ. प्रकाशन चन्द्र गंगराडे, पुस्तक महल, दिल्ली।
- लोक संगीत अंक, सम्पादक डॉ. लक्ष्मीनारायण गर्ग, संगीत कार्यालय, हाथरस, उ.प्र.
- भारतीय लोक संगीत, सम्पादक डॉ. वीणा श्रीवास्तव, राधा पब्लिकेशन, नई दिल्ली।

आनन्द और सौन्दर्य का आत्म निवेदन संगीत

डॉ. रामशंकर,

श्रेया पांडेय

शोध-सारः

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है जो निःसंदेह एकाकी जीवन व्यतीत करने का आदी नहीं होता। स्वयं के संपर्क में आने वाले घर के,परिवार के, संबंधियों के, मित्रों के, परिचितों, अपरिचितों, हर व्यक्ति के मध्य आवश्यकतानुसार शब्दों या संकेतों द्वारा विचारों का आदान-प्रदान होता ही है। मानव मात्र ही नहीं सर्व प्राणी मात्र द्वारा स्वयं के मनोभावों के संप्रेषण के विभिन्न माध्यम यथा- मौन, भाव-भंगिमाएं, विचार, शब्द, स्वर, लय आदि संगीत की सार्वभौमिक भाषा है। जो आनंद और सौंदर्य की अनुभूति कराते हैं। यही प्रस्तुत लेखन में समाहित है।

सूचक शब्दः- संकेत, मनोभाव, संप्रेषण, भावभंगिमाये, लय, सार्वभौमिक।

प्रस्तावनाः

आनंद की चरमानुभूति ब्रह्म में लीन होना है और संगीत उस चरम आनंद की प्राप्ति हेतु एक सरल, सहज एवं उत्तम उपाय है।

नाद को संपूर्ण जगत का अस्तित्व नाद माना गया है तथा विधाता की संगीत में अभिव्यक्ति जगत है जिसमें बुद्धि का वैभव है, दर्शन और आत्म दर्शन है। संगीत जो कि सत्यम् शिवम् सुंदरम् के आलोक में सत चित्त आनंद के लोक का मार्गदर्शन कराता है उसका आदि मध्य और अंत भी जीवन दर्शन और आत्म दर्शन का आधार है। संगीत शास्त्रों में ब्रह्मा की प्राप्ति के लिए नादोपासना का मार्ग बताया गया है तथा इस सम्पूर्ण सृष्टि को ही नादात्मक कहा गया है -

''न नादेन बिना गीत न नादेन बिना स्वराः।
न नादेन बिना नृत्य तस्मान्नादात्मक जगत्
नायरूपोः स्मृतो ब्रह्मा नादरूपो जर्नादनः।
नादरपा पराशवितर्नादरुपो महेश्वरः''

कहा जा सकता है कि संगीत स्वयं ही आनंद और सुंदर की प्रतिमूर्ति है, परंतु मानव इस आनंद को व्यक्त करने के लिए जिस सार्वभौम भाषा का प्रयोग करता है वह भी संगीत ही है और यह भाषा अपना सीमित दायरा नहीं रखती, जैसा कि एक भाषा भाषी में सामान्यता देखा जा सकता है। यह समस्त मानव जाति की भाषा है जिसकी अभिव्यक्ति से मानव अपने मन की बात, दिल की बात, हृदय की बात दूसरे तक पहुंचाता है, दूसरे को संप्रेषित करता है इसीलिए इसे आनंद और सौंदर्य की भाषा न कहकर आत्म निवेदन कहा गया है।

कलाओं द्वारा प्राप्त इस आनंद को अलौकिक कहा गया है, इसकी अनुभूति के समय मनुष्य अपने व्यक्तिगत सीमाओं के बंधन से छूट जाता है, उसका हृदय 'अपरिमित' हो जाता है और वह 'व्यक्ति' न रहकर 'मानव' बन जाता है।

संगीत एक व्यापक शब्द है, गीत, वाद्य एवं नृत्य तीनों मिलकर संगीत कहलाते है, जिसमें गीत की प्रधानता है, वाद्य उसका अनुकारक है और नृत्य अपरंजक है, अर्थात् वाद्य गीत का अनुसरण करता है और नृत्य वाद्य का अनुसरण करता है।2

सहायक आचार्य, गायन विभाग, संगीत एवं मंच कला संकाय,काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी
शोध छात्र, गायन विभाग, संगीत एवं मंच कला संकाय काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी

इन्द्रियों के द्वारा किसी भी विषय का ज्ञान होने पर उस विषय के प्रति कोई विशेष भाव सहृदयों की हृदयों में उठता है या जागता है, उस विषय के सम्बन्ध में हमारा यह भाव हमसे अपने अनुकूल क्रिया कराता है। हमने एक सुन्दर वस्तु देखी अर्थात् नेत्रों के द्वारा उस वस्तु का बोध या ज्ञान हमें हुआ इस ज्ञान के पश्चात् उस वस्तु के प्रति एक अनुकूल भाव, एक प्रकार का अनुराग हमारे मन में उमड़ा और उस अनुराग के फलस्वरूप हम उस सुन्दर वस्तु की ओर बारम्बार देखने लगे, उसकी सम्मितता चाहने लगे और हो सके तो उसे प्राप्त करने की इच्छा भी करने लगे।3

ललित कलाओं में निहित सौंदर्य का तात्विक विवेचन करने और उसके आधार पर सिद्धांतों का निरूपण करने के लिए ही 'सौंदर्यशास्त्र' की व्युप्पत्ति हुई तथा इसे एक शास्त्र के रूप में मान्यता प्राप्त हुई। aAesthetic का शाब्दिक अर्थ है "the science of the beauty in art and nature" अर्थात कला वह प्रकृति के सौंदर्य का विज्ञान अथवा शास्त्र। इससे पूर्व पश्चात परंपरा में सौंदर्य का विवेचन दर्शन एक शाखा के रूप में होता था।[4]

भारतीय परंपरा में सौन्दर्यानुभूति ही रसानुभूति है। रस, श्रृंगार, हास, करुण, शोक आदि ही नहीं बल्कि भयानक रौद्र, अद्‌भुत, विभत्स आदि जैसों से आदि मानसिक विचारों को भी भय के घेरे से दूर रहकर उनका रसास्वादन सौंन्दर्यात्मक रूप में कराता है। भरत मुनि के रस सम्बन्धी विचारों का निष्कर्ष इस प्रकार है-

1. रस आस्वाद्य होता है अर्थात् वह अनुभूति न होकर अनुभूति का विषय होता है।
2. रस एक संश्लिष्ट पदार्थ है जिससे भावों के विभिन्न अवयव अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखते हुए भी उसमें विलीन हो जाते है।
3. विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारी भावों तथा विविध अभिनयों द्वारा ही रस की अभिव्यक्ति होती है। विविध भावों एवं अभिनयों के द्वारा संयुकत होकर ही स्थाई भाव रस को प्राप्त करता है।
4. जिस प्रकार अनेक व्यंजनो एवं औषधि के संयोग से रस को उत्पत्ति होती है उसी प्रकार अनेक भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है।
5. जिस प्रकार नानाविध व्यंजनों से संस्कृत अन्न को खाकर रसास्वदन करते हुए पुरूष हर्षित होता है।[5]

संगीत केवल मनोरंजन के लिए नहीं है, यह तो आत्मिक आनंद की अनुभूति देने वाला है। मनोरंजन तो इसका अतिरिक्त लाभ है। जहां जो सुंदर है वह संगीत में शामिल होना चाहिए। संगीत इसी तरह समृद्ध होता है।

आज के इस उथल-पुथल भरे युग में जब आनंद की सारी अवधारणाएं सफलता, संपन्नता, समृद्धि, साधनों की प्रचुरता एवं अन्य भौतिक उपलब्धियों तक सीमित है। जबकि वास्तविकता यह है कि भौतिक सुखों के इस मायाजाल में हमने आनंद को कब का तिरोहित कर दिया है। आनंद तो सुख की दशा में होने वाला वह अतिरिक्त भाव है जो चित्र को प्रसन्न कर एवं मुग्ध कर परमात्मा एकाकार होने की प्रवृत करता है।

संगीत का आंतरिक सौंदर्य ही श्रोताओं को मंत्रमुग्ध करता है जैसे आलाप लेने का ढंग। सभी कलाकार अच्छा नहीं गा बजा सकते हैं किसी के आलाप में अधिक आकर्षण होता है। आलाप कई प्रकार की होती है, जैसे बोल प्रधान और गायकी प्रधान। यह दोनों ही अलग-अलग प्रकार के सौंदर्य प्रदान करते हैं।

हाल के दशकों में दार्शनिकों ने सौंदर्य और आनंद के अतिरिक्त मुद्दों पर जोर देने का प्रयास किया है। उदाहरण के लिए भावना व्यक्त करने की संगीत क्षमता एक केंद्रीय मुद्दा रही है।

विचार-विमर्शः

विचार अभिव्यक्त करने के लिये जितने माध्यम हैं उनमें पहला तो इंगित संकेत, अंगविक्षेप, भावभंगिमा, मुद्रा इत्यादि है जो नृत्य का मूल है। विचार तो अभिव्यक्ति और हृदय के सूक्ष्म भाव के संप्रेषण का दूसरा माध्यम है। भाषा रहित कंठ ध्वनि का उच्चारण जिसे वर्णमाला में लिखा जा सकता है और वह शब्द लगभग संसार की सभी भाषाओं में एक ही तरह के हैं जैसे हां हूं न नो नीयत। इसी प्रकार कई ऐसे शब्द

हैं जो सार्वभौम है तथा हम इन्हें प्राकृतिक भी कह सकते हैं।थोड़ा अंतर देश काल के अनुसार होना स्वभाविक है परंतु मूल रूप उसका एक ही है और यह जो मौन भाषा है उसका परिष्कृत रूप तो लोक नृत्य है। तथा संस्कारित रूप शास्त्रीय नृत्य है। मुक्त अभिनय तथा नृत्य नाटिका भी इसी का अंग है। मनुष्य की स्वाभाविक प्रक्रिया जो उसके मूल प्रवृत्ति का अंग है जैसे- रोना, हंसना, कराहना, आदि। भावबोधक 'ध्वनि-बिम्ब' और 'ध्वनि-प्रतीक' जिन में शब्दो को निरर्थक माना गया, वह भी अपने ढंग से सांकेतिक रूप में भावभिव्यक्ति के सार्वभौम साधन है। उनमें भी स्पष्ट स्वर है जिसके द्वारा एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति की भाषा न समझते हुये भी उसके हृदयगत भावो को समझ जाता है। लोकनृत्य में कई प्रकार की निरर्थक आवाजें निकाली जाती है जो बिना साहित्य के अपने भावो को अभिव्यक्ति कर लेती है।

आनन्द में व्यक्ति हँसता भी है और रोता भी है। भावसिद्ध संगीतज्ञ यदि अपनी कला की अभिव्यक्ति से करूण रस प्रवाहित करता है तो उसका रुदन भी आनन्द है। भारतीय संस्कृति को ही देखिये यहाँ विरह भाव अथवा किसी की मृत्यु या बिदाई के समय में भी गाकर ही मनोभावों की अभिव्यक्ति की जाती है। कलाकार विरह भाव को स्वर द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है कि श्रोता उसी रस में निमग्न होकर रोने लगता है और यदि कलाकार श्रृंगार रस की संगीत धारा का प्रवाह श्रोताओं तक संप्रेषित करके श्रृंगार रस में सबको निमग्न करता है तो श्रृंगार रस की प्राप्ति में आनंद अनुभूति कराता है।

हर्ष और विषाद दो मूल मनोभाव मानव भाव भूमि पर हैं जिनका संबंध अध्यात्म से भी है। इन्हीं दो मूल मनोभावों के आधार पर नौ रसों की सृष्टि की गई। संगीत में तीन प्रधान रस है वीर, श्रृंगार, करुण, इन तीनों में नौ रसों का समावेश हो जाएगा।

ध्यान देने योग्य बात है कि आजकल हास्य को आनंद का पर्याय माना जाने लगा है तथा संगीत में निहित रसों के अतिरिक्त एक नवीन रस हास्य रस को प्रधान्य देकर हा, हु, हो, जैसे निरर्थक शब्द प्रयुक्त कर सांगीतिक संरचना करके लोग अपना मनोरंजन करते हैं जो हमें अति प्राचीन काल के जंगलियो की ओर आकर्षित करता है जिनकी शब्द योजनाएं इसी तरह की होती थी। जो हास्य रस संगीत में प्रयुक्त होने लगा है वह संगीत की गंभीरता और शालीनता के प्रति अन्याय सा लगता है,परंतु एक तरह से ठीक भी है जिस तरह के मनो भावनाएं रहेंगी उसी तरह का संगीत भी क्योंकि कहा जाता है कि संगीत वार्तालाप या आत्म निवेदन है। यद्यपि कुछ जंगली लोक नृत्य में इस प्रकार के शब्द प्रयुक्त होते हैं तथापि हमारा जो समाज,सुसंस्कृत और साहित्य द्वारा परिष्कृत हो चुका है उसके लिए यह अशोभनीय सा प्रतीत होता है। हमारी नई पीढ़ी का एक वर्ग पाश्चात्य संगीत से प्रभावित होकर उसमें इतना रम गया है कि हास्य रस की उदभावना करने के लिए स्वयं को माध्यम बनाते हुए जो सांगीतिक संरचना वह कर रहे हैं उससे उनकी प्रसन्नता, उनका सुख, कहीं भी व्यक्त नहीं हो पाता। इससे भले ही एक सामर्थ्यहीनता, एक विकृति का भाव व्यक्त हो जाए तो आश्चर्य नहीं। उन्हें यह ध्यान नहीं कि कला के आकृति को अभिव्यक्त में सुकृति का स्थान विकृति ले रही है तथा यदि इस सुकृति पर ध्यान रहे तो कलात्मक उत्कर्ष स्वयं में एक समाधान बन सकता है।

पिछले एक हजार साल में हमारे शास्त्रीय संगीत में कई विदेशी चीजें भी शामिल हो गई हैं जो अब विदेशी नहीं लगती। सितार, तबला और संतूर जैसे वाद्य ईरान से आएं लेकिन अब वे शास्त्रीय संगीत के अभिन्न अंग है। इसीलिये पाश्चात्य संगीत में भी जो सुंदर है, सुरीला है, उसे अपनाया जाता है।

कला, संगीत और साहित्य अक्सर आनन्दमय होते हैं। आनन्द हमें अंतर से साक्षात्कार कराता है। आनन्द के लिये धन की नहीं मन की आवश्यकता है। आनन्द अकल्पनीय है, आनन्द अनायास है, आनन्द अयाचित है, आनन्द अनन्त है।[6]

निष्कर्षः

निष्कर्ष रूप से यह कहा जा सकता है कि वर्णमाला के अक्षरों द्वारा तो मनुष्य अपनी अभिव्यक्ति करता ही है साथ ही उसके आनंद सुख और दुख की बोलचाल संगीत है संगीत वास्तव में हीरे की भाषा

है जो सब शब्दों की अपेक्षा स्वर और लय द्वारा अधिक व्यक्त होता है। मन के सूक्ष्म भावों के अभिव्यक्ति की संगीत एक सार्वभौम भाषा है जो मानव मात्र की ही नहीं प्राणी मात्र की बोलचाल की भाषा कही जा सकती है, जिसके द्वारा आनंद की प्राप्ति सांसारिक दृष्टि से तो सर्वमान्य है साथ ही साथ यह संगीत आध्यात्मिक सत चित आनंद के लोक का भी मार्गदर्शन कराता है। संगीत ही आत्म दर्शन का आधार है जिसका उपयोग अलौकिक या परलौकिक सिद्धि हेतु होता है।

संदर्भ-सूचीः-

1. शर्मा डॉ. किरन, संगीत कला एवं सौन्दर्यानुभूति पृष्ठ सं.17-Artistic narration 2018।
2. बृहस्पति आचार्य एवं सुमित्र कुमारी श्रीमती, संगीत चिंतामणि, पृष्ठ सं.5,6 संगीत कार्यालय हाथरस, प्रथम संस्करण जून 1966।
3. बृहस्पति आचार्य एवं सुमित्र कुमारी श्रीमती, संगीत चिंतामणि, पृष्ठ सं.7 संगीत कार्यालय हाथरस, प्रथम संस्करण जून 1966।
4. शर्मा डॉ. किरन, संगीत कला एवं सौन्दर्यानुभूति पृष्ठ सं.18-Artistic narration 2018।
5. बृहस्पति कैलाश चन्द्र देव आचार्य, भारत का संगीत सिद्धान्त पृष्ठ सं. 256, 257 प्रकाशन शाखा, सूचना विभाग, प्रथम संस्करण 1959।
6. कौर नरेन्द्र डॉ., संगीत के मूल तत्व भाग-1 पृष्ठ सं. 1 कनिष्क पब्लिशर्स, डिस्ट्रीब्यूटर्स नई दिल्ली-110002 प्रथम संस्करण 2012।

सितार वाद्य की उत्पत्ति की अवधारणाः एक सैद्धान्तिक विश्लेषण

डा. रितु सिंह

भारतीय संगीत के अनादि धरोहर पर वाद्यों की परम्परा अति प्राचीन रही है। वाद्यों की इस अत्यन्त समृद्ध क्रियात्मक परम्परा में प्राचीन काल से वर्तमान समय तक तन्त्री वाद्यों का महत्व सर्वाधिक रहा है। इसका प्रमाण हमें वैदिककालीन 'याज्ञवल्क्य स्मृति' में प्राप्त होता है। वीणा की महत्ता को प्रतिपादित करते हुए इस स्मृति में कहा गया है-

''वीणावादनतत्वज्ञः श्रुतिजातिविशारदः।
तालज्ञश्चाप्रयासेनमुक्तिमार्गंनिगच्छति।।''

भारतीय संगीत में प्राचीनकाल से ही तन्त्री वाद्यों का एक बृहदकोष विद्यमान रहा है, जिन्हें वीणा की सामान्य संज्ञा से अभिहित किया गया है। अधुनाप्रचलित प्रायः सभी तन्त्री वाद्य इन्हीं वीणाओं के परिवर्तित एवं परिवर्धित रूप हैं, जो विकास के हजारों वर्ष तय करके अपने वर्तमान स्वरूप को प्राप्त हुए हैं। परिष्करण के इसी प्रक्रिया के फलस्वरूप सितार वाद्य का भी अविर्भाव हुआ, जो कि आधुनिक युग में सर्वाधिक प्रसिद्ध तथा सर्वगुणसम्पन्न तन्त्री वाद्यों में अपना शीर्षस्थ स्थान रखता हैं।

आधुनिक युग में सर्वाधिक प्रसिद्ध तथा सर्वगुणसम्पन्न तन्त्री वाद्यों में सितार का स्थान शीर्षस्थ है। यद्यपि वर्तमान समय में यह वाद्य अत्यधिक लोकप्रिय और पूर्ण वाद्य के रूप में अपना प्रतिष्ठापूर्ण स्थान स्थापित कर चुका है, तथापि इसे अपने वर्तमान स्वरूप तक पहुँचने में विकास की एक लम्बी यात्रा तय करनी पड़ी है तथा अनेक बार इसे अपना स्वरूप परिवर्तित करना पड़ा है।

सितार की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विभिन्न ग्रन्थों में भिन्न-भिन्न मत प्राप्त होते हैं। कुछ विद्वान सितार की उत्पत्ति का कारक पर्शियन वाद्य 'सेहतार' को मानते हैं, तो कुछ अमीर खुसरों को इसका अविष्कारक मानते हैं। इसके उत्पत्ति के सम्बन्ध में व्याप्त मत एवं भ्रान्तियाँ अग्रांकित है-

सितार की उत्पत्ति विषयक विभिन्न मत एवं व्याप्तभ्रान्तियाँ

विभिन्न सांगीतिक ग्रन्थों एवं वक्तव्यों के अनुसार सितार की उत्पत्ति विषयक निम्न मत दृष्टिगोचर होते हैं-

1. पर्शियन वाद्य 'सेहतार' से सितार की उत्पत्ति

कुछ विद्वानों का यह मानना है कि सितार 'ईरानी' अथवा 'पर्शियन' वाद्य है, जो कि मुसलमानों के आगमन के साथ भारत आया। उनका कहना है कि ''सितार शब्द का विकास पर्शियन 'सेहतार' से हुआ है। पर्शियन भाषा में 'सेहतार' का अर्थ है 'तीनतारों' वाली वीणा।'' किन्तु इस तथ्य का खण्डन करते हुए डॉ. लालमणिमिश्र जी ने अपने ग्रन्थ में लिखा है कि ''कुछ विद्वान ऐसे भी हैं जो सितार को ईरानी वाद्य मानते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि ईरान में भी इकतार, दुतार, सितार, चौतार आदि वाद्यों का प्रचार रहा है। किन्तु उसकी बनावट भारतीय वाद्यों से मूलतः भिन्न होती है।''

प्रसिद्ध सितार वादक उ. शाहिद परवेज़ जी के शब्दों में ''भारतीय संगीत में स्वयं वाद्यों की एक सुदृढ़ परम्परा रही है। अतः भारतीय संगीत से यह वाद्य ईरानी संगीत में अपनाया गया न कि यह ईरानी संगीत से भारतीय संगीत में लिया गया। यह प्राचीन भारतीय त्रितन्त्री वीणा का परिष्कृत स्वरूप है।''

असि. प्रोफेसर-सितार, कमला आर्य कन्या पी. जी. कालेज, मीरजापुर

प्रो. कृष्णा चक्रवर्ती जी ने अपने साक्षात्कार में बताया कि ''हमारे भारतीय 'सितार' और ईरानी 'सेहतार' की बनावट और आकार में बहुत परिवर्तन है। भारतीय सितार से ईरानी सेहतार की समानता करना एक कल्पनामात्र है।''

अतः उपरोक्त विवरण से यह पूर्णतः प्रमाणित हो जाता है कि वर्तमान 'सितार' पर्शियन या ईरानी 'सेहतार' का परिष्कृत रूप नहीं है अपितु दोनों पृथक वाद्य हैं एवं सितारपूर्ण रूप से एक भारतीय वाद्य है। इसे ईरानी संगीतज्ञ अपने साथ ईरान एवं पर्शिया ले गए और वहाँ से कुछ परिवर्तित होकर वह पुनः भारत आया। विकासक्रम की दृष्टि से तीनतार से सातताराें का प्रयोग भी भारत में ही हुआ। अतः मूलतः यह भारतीय वाद्य है।

2. हज़रत अमीर खुसरो द्वारा सितार का अविष्कार

कुछ विद्वानों का यह मानना है कि सितार का अविष्कार हजरत अमीर खुसरो ने किया है। परन्तु अमीर खुसरो द्वारा सितार के अविष्कार की धारणा बिल्कुल ही निराधार है क्योंकि खुसरो ने स्वयं अपने किसी भी ग्रन्थ में सितार वाद्य का उल्लेख नहीं किया है।

डॉ. प्रकाश महाडिक जी के अनुसार ''इसके द्वारा लिखित दो ग्रन्थ 'नूरसिपहर' एवं 'किरानुस्सादैन' संगीत के क्षेत्र में काफी चर्चित है। अमीर खुसरो ने स्वयं इस बात का जिक्र कहीं नहीं किया है कि वह भारतीय संगीत का ज्ञाता है तथा उसके साहित्यों का अनुशीलन करने पर कहीं से यह परिलक्षित नहीं होताहै कि वह भारतीय संगीतशास्त्री था। भारतीय संगीत की प्रशंसा में उसने अपने ग्रन्थ में लिखा है कि इसके द्वारा पशु और सर्प तक वश में किये जाते हैं। अपने बारे में उसने स्वयं का ईरानी संगीत का माहिर लिखा है। भारतीय संगीत के ज्ञान के बारे में उसने कोई जिक्र नहीं किया है। उपरोक्त तथ्य यह प्रमाणित करता है कि सितार का अविष्कार करने योग्य शास्त्रीय ज्ञान अमीर खुसरो में नहीं था।''

डॉ. वहीदमिर्जा ने भी अपनी पुस्तक में लिखा है कि ''दुर्भाग्यवश मैं खुसरो के लेख में 'सितार' शब्द का उल्लेख कहीं भी नहीं ढूँढ पाया जबकि उसके काल के कई वाद्यों का विवरण अनेक पृष्ठों पर भरा पड़ा है।''

डॉ. रामावल्लभ मिश्र के अनुसार'' अमीर खुसरो के काल के प्रसिद्ध इतिहासकार बर्नी ने अपने साहित्य में उस समय के दरबारी संगीत की चर्चा की है तथा कई वाद्यों का उल्लेख भी किया है परन्तु उन वाद्यों में कहीं भी सितार वाद्य की चर्चा नहीं की। अमीर खुसरो के बाद मुगलकालीन इतिहास की पुस्तकें 'आइने अकबरी', 'तुजक जहांगीरी' आदि में भारतीय संगीत की चर्चा बहुत विस्तार से की गयी है, परन्तु सितार वाद्य की चर्चा कहीं भी नहीं है।

अतः उक्त प्रमाणों के आधार पर निःसन्देह कहा जा सकता है कि सितार का अविष्कार अमीर खुसरो ने नहीं किया है।

3. चित्र एवं परिवादिनी वीणा से सितार की उत्पत्ति

आधुनिक सितार में तारों की संख्या सात होने के कारण कुछ विद्वानों ने इसकी उत्पत्ति चित्र अथवा परिवादिनी वीणा से मानी है क्योंकि चित्र और परिवादिनी वीणा में भी सात तार विद्यमान थे। किन्तु केवल तारों की समानता के आधार पर चित्र अथवा परिवादिनी वीणा को सितार की उत्पत्ति का श्रेय नहीं दिया जा सकता। यद्यपि वर्तमान सितार में सात तार विद्यमान है तथापि सितार के पूर्व रूप में केवल तीनतार थे। अतः यह तथ्य ही निराधार है।

4. त्रितन्त्री वीणा द्वारा सितार की उत्पत्ति

कुछ विद्वान सितार को प्राचीन त्रितन्त्री वीणा का परिवर्तित रूप मानते हैं। इस मत के अनुयायी सबसे अधिक हैं तथा यही उचित एवं प्रमाणिक भी है।

श्री एस. एम. टैगोर ने 'यंत्र क्षेत्र दीपिका' में लिखा है कि ''सितार का प्राचीन संस्कृत नाम त्रितन्त्री है। तीनतार से युक्ततन्त्र को संस्कृत भाषा में त्रितन्त्री कहते हैं। वास्तव में इस यन्त्र में तीन ही तार होते हैं। अभी भी पश्चिमी देश में यदा-कदा तीनतार देखे जाते हैं। फारस का सितार और संस्कृत की त्रितंत्री का शाब्दिक अर्थ एक ही है, किन्तु कार्य में एक समान नहीं दिखायी देते। संस्कृत के ग्रन्थकारों ने वीणा के बहुत से नाम दर्शायें हैं, उनमें त्रितन्त्री भी एक वीणा है। इस आधार पर सितार का नाम त्रितन्त्री वीणा है।

प्रो. पुष्पाबसु के अनुसार ''सितार त्रितन्त्री वीणा का ही परिष्कृत स्वरूप है। इसका दूसरा कोई विकल्प नहीं है।''

डा. लालमणिमिश्र ने भी त्रितन्त्री वीणा से ही सितार की उत्पत्ति मानी है। इनके अनुसार ''सितार का पूर्व नाम त्रितन्त्री वीणा था, किन्तु जब हिन्दू संगीतज्ञ मुसलमान बनाए जाने लगे तब उनकी जुबान भी हिन्दी से उर्दू हो गयी तथा उन्हें संस्कृत के उच्चारण कठिन प्रतीत होने लगे इसलिए मुसलमान उस्तादों द्वारा त्रितन्त्री की तजुर्माकर उसे सेहतार या सितार कहा जाने लगा।''

उन्होंने अपने ग्रन्थ में लिखा है कि त्रितन्त्री वीणा का 'सितार' नाम लगभग दो सौ वर्ष पुराना है। इससे पूर्व इस वीणा को ग्रन्थों में ''त्रितन्त्री वीणा'' अथवा ''निबद्ध तम्बूरा'' कहा गया है और सामान्य जन इसी वीणा को 'यन्त्र' अथवा 'जन्त्र' के नाम से पुकारते हैं।''

इस प्रकार सर्वसम्मत से यह माना जा सकता है कि सितार की उत्पत्ति त्रितन्त्री वीणा से ही हुई है।

5. सितार के अविष्कारक खुसरो खाँ

कुछ विद्वानों का मानना है कि सितार का अविष्कार अमीर खुसरो ने नहीं बल्कि खुसरो खाँ फकीर ने किया है।

आचार्य बृहस्पति के अनुसार ''वर्तमान सितार का अविष्कार नेमत खाँ (सदारंग) के छोटे भाई खुसरो खाँ ने किया जो फिरोज खाँ (अदारंग) के पिता थे।''

मियाँ अमृतसेन के शिष्य पं. सुदर्शनाचार्य शास्त्री ने भी अपने ग्रन्थ 'संगीतसुदर्शन' में स्पष्ट रूप से तानसेन के दोहित्र वंश के 'खुसरो खाँ' को सितार का अविष्कारक लिखा है। उन्होंने लिखा है कि ''सितार को अमीर खुसरो फकीर ने निकाला और इस पर तीन तार चढ़ाए। इसी कारण इसका नाम 'सेहतार' रखा गया।''

डॉ. रामावल्लभमिश्र के अनुसार- ''नवाब दरगाहकुली खाँ की लिखी पोथी ''मीरातेदिल्ली'' में उन्होंने स्वयं इन शब्दों में लिखा है कि ''नेमत खाँ सदारंग का भाई खुसरो खाँ संगीत का उद्भट विद्वान है। उसने एक तीन तार वाला नया बाजा सहतार बनाया है। जिसपर नयी-नयी राग-रागिनियाँ बड़ी कुशलता के साथ बजाता है।''

उपरोक्त साक्ष्य खुसरो खाँ को सितार का अविष्कारक सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है। इसके अतिरिक्त सितार के विकास का सम्पूर्ण इतिहास सभी खुसरो खाँ से चलकर उनके वंश तथा शिष्य परम्पराओं तक सुरक्षित मिलता है, जो कि यह प्रमाणित करता है कि सितार के अविष्कारक अमीर खुसरो नहीं बल्कि तानसेन वंशीय खुसरो खाँ थे।

इस वंश का ऐतिहासिक क्रम इस प्रकार प्राप्त होता है। तानसेन की सोलहवीं पीढ़ी में खुसरो खाँ, इनके पुत्र फिरोज खाँ (अदारंग), इनके पुत्र मसीत खाँ, इनके पुत्र बहादुर खाँ (दिल्ली), मसीत खाँ के शिष्य दुल्हे खाँ, इनके शिष्य रहीमसेन, रहीमसेन के पुत्र अमृतसेन, अमृतसेन के शिष्य अमीर खाँ, अमीर खाँ के शिष्य बरकतउल्ला खाँ और इमदाद खाँ साहब, इमदाद खाँ के पुत्र इनायत खाँ इनके पुत्र विलायत खाँ। इस प्रकार खुसरो खाँ की वंश एवं शिष्य परम्परा वर्तमान तक सितार वाद्य के विकास व प्रचार से सम्बद्ध है।

डॉ. रामावल्लभ मिश्र खुसरो खाँ को सितार का अविष्कारक मानते हुए लिखते हैं कि ''ऐतिहासिक तथ्यों से जैसा परिलक्षित होता है ''सेहतार'' का निर्माण त्रितन्त्री वीणा के आधार पर हुआ। त्रितन्त्री वाली वीणा तथा छः तार वाली जन्त्री भारत में प्राचीनकाल से प्रचलित थी परन्तु इसको कोई प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं थी। त्रितन्त्री में तीन तोम्बे, तीनतन्त्रियाँ तथा 16 पर्दे होते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि खुसरो खाँ ने इसी वीणा में परिवर्तन करके एक नये वाद्य का अविष्कार किया और इसका नाम सेहतार रखा।''

निष्कर्ष :उपरोक्त साक्ष्यों एवं प्रमाणों से सितार के अविष्कार से लेकर उसके विकास तक की प्रक्रिया में खुसरो खाँ एवं उनके वंशजों का एक सूत्रबद्ध ऐतिहासिक प्रमाण मिलता है, जिससे कि यह सिद्ध होता है कि सितार का अविष्कार हजरत अमीर खुसरो ने नहीं बल्कि तानसेन के वंशज खुसरो खाँ ने किया है। अतः सितार की उत्पत्ति विषयक विभिन्न मतों का सांगोपांग विवेचन करने के पश्चात् निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि त्रितन्त्री वीणा के आधार पर खुसरो खाँ ने सितार का अविष्कार किया।

संतूर वाद्य का निर्माण एवम् रख-रखाव की तकनीक

प्रियंका शर्मा

हमारे प्राचीन ग्रन्थों में अनेक प्रकार की वीणाओं का वर्णन मिलता है यदि हम तंत्री वाद्यों के इतिहास पर दृष्टिपात करे तो ज्ञात होता है कि प्राचीन काल में समस्त वाद्यों को वीणा के नाम से पुकारा जाता था। उदाहरणार्थ एकतन्त्री वाली वीणा एकतन्त्री वीणा तीन तन्त्रियों वाली त्रितन्त्री वीणा, सात तत्रिंयों वाली सप्तन्त्री वीणा, सौ तत्रिंयों वाली शततंत्री वीणा, कछुआ के आकार वाली कच्छपी वीणा इत्यादि।

अनेक संशोधन व परिवर्तन के पश्चात् शततंत्री वीणा ही एक नवीन वाद्य के रूप में हमारे समक्ष आई व कालांतर में यही वाद्य संतूर के नाम से जाना गया। संतूर शब्द दो शब्दों के मेल से बना है सन+तूर सन अर्थात् सौ एवम् तूर अर्थात तत्री इस वाद्य के आविष्कार के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न मत प्राप्त होते है किन्तु ये सर्वमान्य है कि भारतीय शास्त्रीय संगीत में प्रयोग होने वाले सतूंर का जन्म कश्मीर के सूफी संगीत में प्रयोग होने वाले संतूर वाद्य से हुआ।

सूफी संगीत में प्रयोग होने वाले संतूर वाद्य में 25 घुड़च के ऊपर सौ तन्त्रियाँ लगी रहती है। एवम् प्रत्येक घुड़च पर रखी चार-चार तन्त्रियाँ एक ही स्वर में मिलाई जाती है किन्तु विश्व विख्यात संतूर वादक पण्ड़ित शिव कुमार शर्मा अपने सतूंर वाद्य में 31 घुड़च व 91 तन्त्रियों का प्रयोग करते है तथा प्रत्येक घुड़च पर रखी तीन-तीन तन्त्रियों को एक ही स्वर में मिलाते थें।

महान् संतूर वादक पण्ड़ित भजन लाल सोपोरी ने अपने वाद्य में 43 घुड़च व 121 तन्त्रियों का प्रयोग किया है।

प्रारम्भ में पण्डित शिव कुमार शर्मा व भजन लाल सोपोरी अपने वाद्यों का निर्माण कश्मीर क्षेत्र के उस्ताद मोहम्मद ज़ज़ से करवाते थे। उस्ताद मोहम्मद ज़ज़ संतूर वाद्य के निर्माण हेतु बादाम की लकड़ी का प्रयोग करते है। इन दिनों पण्ड़ित शिव कुमार शर्मा व पण्ड़ित भजन लाल सोपोरी अपने वाद्य का निर्माण वाराणसी के सुविख्यात वाद्य निर्माणकर्ता श्री देवी प्रसाद से करवाते है। श्री देवी प्रसाद सतूंर वाद्य के निर्माण में तून व मेपल की लकड़ी का प्रयोग करते है संतूर का बक्सा बनाने के लिए ऊपर व नीचे प्लाई का प्रयोग किया जाता है। आप घुड़च बनाने के लिए शीशम की लकड़ी का प्रयोग करते है आप अपने वाद्य में जर्मन देश में निर्मित तन्त्रियों का प्रयोग करते है।

दिल्ली के वाद्य निर्माणकर्ता श्री दलजीत सिंह संतूर बनाने हेतु भारतीय लकड़ी के अतिरिक्त उच्चकोटि की विदेशी लकड़ी का भी प्रयोग करते है।

किसी भी सांगीतिक वाद्य पर वातावरण का प्रभाव पूर्णतः परिलक्षित होता है संतूर वाद्य को वातावरण के प्रभाव से सुरक्षित रखने हेतु वादक भिन्न-भिन्न यत्न करते है। उदाहरणार्थ वाद्य को सूती वस्त्र में बांधना जमीन से कुछ ऊंचाई पर रखना वाद्यों को नमी से बचाना इत्यादि आधुनिक काल में वाद्य को सुरक्षित रखने हेतु भिन्न-भिन्न प्रकार के बक्से उपलब्ध है। चमड़े अथवा फोम के बने बक्से वाद्य को बाहरी वातावरण से सुरक्षित रखते है। आज फाइबर के बने बक्से में वाद्य पूर्ण रूप से सुरिक्षत रहता है। इन बक्सों में रखा गया वाद्य न तो बाहरी वातावरण से क्षतिग्रस्त होता है व न ही लगा हल्का फुलका आघात वाद्य को किसी प्रकार की हानि पहुंचाता है। इस प्रकार किसी भी वाद्य की ध्वनि व गुणवत्ता उस वाद्य के निर्माण व रख-रखाव पर अत्यधिक निर्भर करती है।

शास्त्रीय संगीत की अनुपम शैली : तराना

डॉ. मधुमिता भट्टाचार्य

तराना भारतीय संगीत की एक लोकप्रिय शैली है। ता ना दिर दिर दीम तनन आदि वर्णों से युक्त ख्याल अंग की रचना को तराना कहते हैं। इसकी बंदिशों में मुख्यतः तन दानी ओदेतन तनोम यलली तदरे तदानी जैसे बोलों का प्रयोग होता है। अनेक तरानों में इनके साथ सरगम व मृदंग अथवा पखावज के बोलों का प्रयोग भी होता है।

''स्वर, ताल, अवनद्ध वाद्यों के पाट और तेन (त, न आदि) अंगों से बनी हुई रचना है जो द्रुत लय में गाई जाती है। निरर्थक वर्णों से बनी निरर्थक रचना है जिसमें केवल द्रुत लय और वर्ण वैचित्र्य का चमत्कार रहता है।''[1]

ख्याल गायन की भाँति तराना भी आधुनिक काल का एक बहुत लोकप्रिय प्रकार है। यह सुनने में बहुत सुन्दर तथा मधुर मालूम होता है। तरानों में यद्यपि सार्थक शब्दों का प्रयोग नहीं होता तथापि निरर्थक शब्द भी स्वर, लय और कल्पना के माध्यम से श्रोताओं पर अद्‌भुत प्रभाव डालते हैं। तराना गायकी का सौन्दर्य विभिन्न स्वर समुदाय तथा विभिन्न प्रकार की लयकारियों में ही निहित होता है।

तराना की उत्पत्ति कैसे हुई इस सन्दर्भ में अनेक मत मतान्तर हैं। प्रायः विद्वानों का मानना है कि हजरत अमीर खुसरो ने तराना गायन शैली का अविष्कार किया है। ''तराना का अविष्कार सबसे प्रथम तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी में अलाउद्‌दीन खिलजी के दरबार के सुप्रसिद्ध संगीतज्ञ हज़रत अमीर खुसरो ने किया था। उन तरानों में फारसी या उर्दू भाषा के एक दो शेर (कविता प्रकार) भी अक्सर रहा करते थे।''[2] ''अबुल फज़ल के अनुसार खुसरो ने समिति और तातार की सहायता से कौल और तराना का आविष्कार किया था।''[3]

भारतीय संगीत के इतिहास को देखने से यह स्पष्ट होता है कि अमीर खुसरो के बहुत पहले से शब्द तथा पद निरर्थक वर्णों से युक्त गायन शैली विद्यमान थी। इस गीत शैली को निर्गीत अथवा बहिर्गीत कहते हैं। नाट्यशास्त्र के अनुसारः-

निर्गीतं गीयते यस्माद्‌पदं वर्णयोजनात्।
असूयया च देवानां बहिर्गीतमिदं स्मृतम्।[4]

अर्थात् शब्द अथवा पद रहित केवल निरर्थक वर्णों की योजना से गाये जाने के कारण यह गीत निर्गीत कहलाता है एवं देवताओं की असंतुष्टि के कारण इसे 'बहिर्गीत' भी कहते हैं। इस निर्गीत के आविष्कारक नारद माने जाते हैं। यह गीत एक शब्दहीन रचना थी जो देवताओं को पसन्द नहीं आयी। देवताओं को संतुष्ट करने के लिये नारद मुनि ने निर्गीत के आरंभ में आलाप सदृश एक अंग उपोहन जोड़ दिया।

नारद द्वारा लिया गया यह निर्णय दोनों पक्षों के लिये संतुष्टि जनक हुआ। असुरों की प्रसन्नता का कारण यह था कि 'उपोहन' का गायन निरर्थक अक्षरों के लिये किये जाने का विधान बना। देवताओं ने नारद की यह बात मान ली लेकिन अपनी रूचि के अनुकूल नहीं होने के कारण इसको बहिर्गीत की संज्ञा दे दी।

बहिर्गीत के अन्तर्गत सम्पन्न होने वाले अंगों में संगीत की दृष्टि से तीन का महत्त्व है- नान्दी, शुष्कापकृष्ट तथा रंगद्वार। नान्दी के अन्तर्गत

प्रदर्शन कला विभाग, काशी हिन्दू वि. वि. वाराणसी

अपकृष्टा, अड्डिता आदि ध्रुवाओं का गान विहित है। इनमें केवल शुष्काक्षरों अथवा स्तोभाक्षरों या शुष्काक्षरों का प्रयोग ही मान्य है। स्तोभाक्षरों या शुष्काक्षरों का उपदेश ब्रह्मा ने दिया, ऐसा कहा जाता है। वे इस प्रकार है-झण्टुं, जातिप, बलितक, कुचमल, गितिकल, पशुपति, दिगिदिगि, दिग्रे, गणपति आदि।

भरतकाल में प्रचलित ये बहिर्गीत अथवा निर्गीत तत्कालीन समय नाट्य का अभिन्न अंग था। संभवतः यह आज के तराने का प्राचीन रूप प्रतीत होता है। साम गान के अन्तर्गत भी हा हा हू हू आदि निरर्थक शब्दों द्वारा स्तोभगान किया जाता रहा है। संभवतः आधुनिक संगीत में तनन तोम, तनोम आदि आलाप सूचक शब्दों का प्रयोग इन्हीं शुष्काक्षरों के प्रयोग का परिचायक है।[5]

ब्रह्मा ने स्तोभाक्षरों का उपदेश दिया है। सात जातियों से उत्पन्न होने वाले सात कपालों का निर्देश दिया है। इनके नाम जातियों के नाम पर ही हैं-षाडजी कपाल, आर्ष भी कपाल एवं गांधारी कपाल आदि। ध्रुवा इत्यादि अन्य प्राचीन गीतों को प्रारंभ करने के पूर्व जाति अथवा राग का मेल उत्पन्न करने के लिये षड्ज, ऋषभ अथवा गांधार आदि राग मेल जनक स्थायी स्वर को स्थिर करते थे। इस क्रिया के लिये प्राचीन समय में झण्टुं आदि निरर्थक शब्दों को प्रयुक्त किया जाता था।

शारंगदेव ने उपोहन में प्रयुक्त झण्टुं आदि निरर्थक शब्दों को नाट्यशास्त्र से उद्धृत किया है। ऋक्गीत में ताल पूरणार्थ ओंकार एवं हकार स्तोभ एवं झण्टुं, दिगि दिगि आदि वर्णों को गाया जाता था। ऐसे वर्णमालिका को ब्रह्म गीत की संज्ञा दी गयी।

झण्टुं जातिप बलिकित कुचमल गितिकल
पशुपति दिगिदिगि वादिगोंगणति तिधा
इत्येतामब्रवीद ब्रह्मा।[6]

भरत ने आसारित गीत के उपोहन अंश में ब्रह्मागीताक्षरमालिका दी है और उसे आसारण कहा है। उपोहन में शुष्काक्षरों से ही स्वरों का वाक्यकरण किया जाता है। गीत का यह प्राचीन रूप आज के तराना जैसा संभवतः प्रतीत होता है।

भरतभाष्यम् के संयोजक तथा संपादक श्री पुण्डरीक देसाई ने वीणा पर बजाने वाले गीत का मुख से ध्वन्यानुकरण को शुष्काक्षर कहा है।

भरतमुनि ने उपोहन को गान भाण्ड समाश्रयम् कहा है तथा उसकी टीका में अभिनवगुप्त ने भाण्ड संहिते अर्थ बताया है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि इन शुष्काक्षरों में दो भुण्टुं, जातिप, बलिकित आदि अक्षर मृदंग आदि ताल वाद्यों के रहे होंगे। दिगि, दिगि, तितिधा आदि नृत्य के बोल होंगे, जो संभवतः गीत के ही एक अंग के रूप में थे। उनको तालबद्ध कर के राग स्वरों से गीत के आरंभ में इन्हें स्वर स्थिर करने के लिये गाते थे।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि शुष्काक्षरों का उपोहन में वही स्थान है, जो कि आज के गायन में तराने का है। तराना शब्द का नामकरण संभवतः बाद का है किन्तु इस शैली की विशेषतायें एवं तत्व प्राचीन गीतियों - आसारित, पाणिका आदि में प्राप्त होते थे।

सामगान भारतीय संगीत का आदिमूल है। साम के पाँच विकार थे- विश्लेषण, विकर्षण, अभ्यास, विराम तथा स्तोभ। सामगान में स्तोभ वर्णों का महत्वपूर्ण स्थान है।

ये निरर्थक शब्दों के समूह होते थे जैसे-हाऊ, अहोवा हा हा, हू हू इत्यादि। इन वैदिक स्तोभो से मिलते-जुलते शैली या गान प्रकार आज भी विद्यमान हैं। स्तोभाक्षर से समानता विशेषकर तराना में देखी जा सकती है। स्तोभ में तराना की भाँति निरर्थक अक्षरों का प्रयोग होता था जैसे- हा हा, हू हू। स्तोभ पाद पूर्ति का साधन माना जाता था। आधुनिक काल में तराना भी छोटे ख्याल के बाद ही पूरक रूप में गाते हैं। तराना शैली में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में विद्यमान हैं।

प्रबन्ध के छः अंगों में स्वर विरूद पद तेनक, पाट तथा ताल। तेनक अंग जो कि मंगलार्थ सूचक शब्द थे, का अपभ्रंश रूप वर्तमान तराना में मिलता है। कुछ विद्वानों का कथन है कि तराना के नोम तोम, तनन इत्यादि तेनक के ऊँ अनन्त हरि नारायण का ही अपभ्रंश रूप है। तरानों में पाटाक्षरों का भी प्रयोग बहुलता से होता है।

कुछ विद्वान अमीर खुसरो को तराना का आविष्कारक मानते हैं। तराना में जो शब्द प्रयुक्त होते है उसमें कई शब्द फारसी, तुर्की आदि हैं। इन शब्दों का प्रयोग अमीर खुसरो ने किया होगा। कहा जाता है कि अमीर खुसरो से करीब तीन शताब्दी पूर्व नोबा नामक एक गीत प्रकार प्रचलित था जिसमें निरर्थक अक्षरों का प्रयोग होता था। भारत में मुसलमानों के आगमन के बाद इस शैली का प्रचार बढ़ने लगा। यह भारतीय निर्गीत का ही एक प्रकार था। संभवतः तराना शैली के निर्माण में नोबा का भी प्रभाव रहा हो। विद्वानों के अनुसार अमीर खुसरो का इस शैली के प्रचार-प्रसार में योगदान रहा होगा। यह कह सकते हैं परंतु अमीर खुसरो का आविष्कर्ता कहना उचित प्रतीत नहीं होता।

तराना के कई प्रकार प्रचलित हुये। यथा-ख्यालनुमा तराना, टप्प तराना, तुलन, तान बन्धान तराना, नृत्यानुगत तराना।

1. ख्यालनुमा तराना - विलंबित लय में गाये जाने वाले तरानों को ख्यालनुमा तराना कहते हैं। आजकल ख्यालनुमा तराना बहुत कम सुनने को मिलते हैं।

राग मियांमल्हार (ख्यालनामा) झूमरा (विलंबित)

प॑नि मु॒प॑प॒	प॑निध॒ सां॑नि सां	प॑निप॒ रे॑म (मे) रे	रे॑मरे॒ नि॑पसां॑ ग॒रे॑ग
ऽ ऽ ता ऽद्र र	ग्रा॒ ऽ ऽ	ऽऽ ऽ ऽ दों	स्वारा दीऽ ऽम
3	x	2	0

म ग॒ – म	रे सा निसा	नि॒सासा॒ रे॒गरे॒ग म(मे) रे	सा नि॒सासा॒धनिनि॒ -ध
त नों ऽ मृ	द्रे ना ऽऽ	वम् नम् वम् ऽ	न दें ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
3	x	2	0

निसा-निसा प॑नि मु॒प॑पप	7
रेना ऽऽऽ ता ऽद्र	
3	

2. टप्पा तराना -इस प्रकार के तरानों में टप्पा और तराना का मिश्रण होता है।

3. तुलना - इस प्रकार के तराना में तबला या मृदंग के बोलों का समावेश नहीं होता। इसमें केवल तराना के बोलों का प्रयोग होता है।

4. तान बन्ध तराना - कई घरानों के गायकों ने तराना गायिकी में विभिन्न प्रकार के तानों का समावेश किया है। टिकाऊ तान, गमक तान, पेंचीदा तान, लच्छेदार तान इत्यादि के प्रयोग से तरानों को एक नया रूप प्रदान किया। ऐसे तरानों को तान बंध तराना कहते हैं।

5. नृत्यानुगत तराना - वह तराना जो नृत्य के साथ ताल और लय से युक्त होकर गाया जाता है उसे नृत्यानुगत तराना कहते हैं। इसमें ताल वाद्य और घुंघरूओं के पाटाक्षरों का समावेश होता है।

तराना शैली निबद्ध संगीत के अन्तर्गत है, जिसमें निरर्थक वर्णों का प्रयोग मिलता है। इसके अन्तरे कई बार फारसी या उर्दू भाषा के शेर या रूबाई भी देखने को मिलते हैं। अन्तरे में तबला - मृदंग आदि पाटाक्षरों का प्रयोग भी तराना की बंदिशों में देखने को मिलता है। निरर्थक वर्णों के प्रयोग होने के कारण तराना को अति द्रुत लय में भी गाया बजाया जाता है। द्रुत लय के कारण इसमें मींड़ तथा गमक का बहुत ज्यादा प्रयोग नहीं होता। मुर्की, खटका, कण इत्यादि स्वर अलंकरणों का प्रयोग अपेक्षाकृत अधिक होता है। तरानों में राग के सौन्दर्य का समन्वय होता है।

तराने के स्थाई - अन्तरा दो भाग होते हैं। तराने आड़ा चारताल, तीनताल, एकताल, झूमरा (विलंबित) इत्यादि तालों में प्राप्त होते हैं। तीनताल में निबद्ध तराना इस प्रकार हैः-

राग मारवा तराना त्रिताल मध्यलय

सा॒नि॒ रे॒ मं॑ग मं॑	ध॒नि ध॒ -ध॒ध॒ मं॑	ग रे मं॑ग मं॑	ग रे॒ सा नि॒रे॒
उ द त न	नि त्रे ऽम् त	न न त द	रे त न दे
3	x	2	0

नि॒ ध॒ध॒ मं॑ ध॒	सा सा - सा	सा॒नि॒ रे॒ ग मं॑	ग रे सा सा
रे ना त द	रे दा ऽ न्नि	त न नि त	दा रे दा नी
3	x	2	0

वर्तमान में भी ख्याल गायन के पश्चात् तराना गाने की परम्परा है। आज भी शास्त्रीय गायक ख्याल गाने के पश्चात् तराना गायन करते हैं।

संदर्भ ग्रन्थ-सूची

1. भारतीय संगीत में ताल एवं रूप विधान -प ॰ 281 - डॉ॰ सुभद्रा चौधरी
2. भारतीय संगीत सरिता -पृ॰ 130 - डॉ॰ रमा सर्राफ, विद्यानिधि प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण - 2003
3. खुसरो, तानसेन तथा अन्य कलाकार -प ॰ 224 - आचार्य बृहस्पति
4. नाट्यशास्त्र -पृ॰ 165, व्याख्याकार बाबूलाल शास्त्री, अध्याय-5
5. भरत का संगीत सिद्धांत - पृ. 251, आचार्य बृहस्पति
6. भारतीय संगीत का इतिहास - पृ. 291, डॉ॰ शरतचन्द्र परांजपे
7. संगीतोपासना - पृ॰ 51, संपादक : नारायण लक्ष्मण गुणे, प्रकाशक : पूँछवाले षष्ट्यब्दपूर्ति महोत्सव मण्डल, मामासाहब का बाज़ार, लश्कर, ग्वालियर
8. वही -पृ॰ 52

ज्योतिरिन्द्रनाथ के संगीत श्रृष्टि में त्रिवेणीसंगम

डॉ. नीरा चौधरी*, संजय भट्टाचार्या**

ज्योतिरिन्द्रनाथ के संगीत प्रतिभा विकास में ठाकुर परिवार का जिस प्रकार प्रभाव रहा है उसी प्रकार उनकी अपनी इच्छा शक्ति की बात भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। उनकी संगीत रचना प्रारंभ हुई ब्रह्मसंगीत की रचना के साथ। ब्रह्मसंगीत रचना के प्रथम पक्ष में उन्होंने ज्यादातर 'भांगा गान' की ही रचना की थी। सुर के अनुरूप ही गीत रचना करने का उनका विशेष शौक था, जो 19वीं शतक के अन्य बंगला संगीत रचयिताओं से भिन्न था। ज्योतिरिन्द्रनाथ के स्वतंत्र रचना के संबंध में कविगुरू रविन्द्रनाथ ने 'जीवन-समृति' ग्रन्थ में कहा है -1

ज्योतिदादा प्रायः दिनभर शास्त्रीय संगीत के गीतों को पियानों यन्त्र द्वारा अनेकों प्रयोगिक प्रयास किए जिससे क्षण-क्षण में विभिन्न राग - रागिनी अत्यन्त प्रभावशाली रूप में निखर उठते हैं जो राग रागिनीयों के सुर - नियमानुसार मंदगति से चलते हैं उन्हें यहाँ स्वतंत्र रूप से दौड़ाने से उनकी प्रकृति में नई - नई शक्ति नजर आने लगती है जिससे हमारे हृदय विचलित हो जाते हैं। इन्हें सुनकर ऐसा प्रतीत होता है कि मानों ये सुर कुछ कहना चाहते हैं।

ज्योतिरिन्द्रनाथ को जब हम सब देखते हैं कि शास्त्रीय संगीत के गीतों को पियानों यंत्रों पर दिनभर उलट - पुलट कर नए - नए रूप में प्रस्तुत करने के प्रयास को, यंत्र के गत् या तराना के विशिष्ट शब्दों को लेकर छंदमय संगीत की रचना करते थे, प्रादेशिक एवं पाश्चात्य संगीत के ग्रहण करने योग्य सुरों को लेकर हमारे मातृभाषा के माध्यम से सहज एवं आकर्षणीय कर बंगला संगीत के विशेष रूप देते थे, शास्त्रीय संगीत के नियमों को लाँघ कर सुर प्रयोग के क्षेत्र में निज दृष्टांत स्थापना करने के कारण हम उन्हें एक अलग और विशेष दर्जा देते हैं।[2]

ज्योतिरिन्द्रनाथ सिर्फ ब्रह्मसंगीत की रचना ही नही किए थे। उनके अनुसार हमारे जीवन में पूजा का जितना महत्व है उससे कहीं ज्यादा मनोरंजन की भी जरूरत है। बहुमुखी संगीत का प्रचलन ठाकुर परिवार में ज्योतिरिन्द्रनाथ ने प्रथम प्रयास किया सन 1847 ई. में प्रकाशित ''संगीतरागकल्पद्रुम'' से 1891 ई. में प्रकाशित ''संगीत सहस्र'' ग्रंथ में संगीत के विभिन्न धाराओं का विशलेषन करने से जो प्रगतिशील रूप नजर आता है वहीं रूप हमें ज्योतिरिन्द्रनाथ के संगीत सृष्टि में नजर आता है। इसी का फलस्वरूप हमें उनके संगीत सृष्टि में ''त्रिवेणी संगम '' नजर आता है। 3 यह ''त्रिवेणीसंगम'' को स्वर्णकुमारी देवी प्रथम अनुभव की ''भारती'' पत्रिका में छपा एक विज्ञापन देख यही महसूस होता है।

.....संगीत प्रेमियों के यह अनुपम आकर्षणीय है। इसमें सहज एवं प्रचलित स्वरलिपि के व्याख्यान के सहित उसी नियमानुसार कविगान एवं विभिन्न गीतिकाव्य के गीतों का स्वरलिपि किया जाता है। जिससे सहज रूप से गीतों को सिखा जा सकता है। बांग्ला, संस्कृत, हिन्दुस्तानी एवं कर्नाटिक संगीत, महिसुरी, मद्रासी प्रभृति सहज देशीय गीत के स्वरलिपि इसमें पाया जाता है।[4]

ज्योतिरिन्द्रनाथ के संगीत सृष्टि में त्रिवेणीसंगम के जो विषय देखा गया है वे 'स्वरलिपि-गीतिमाला''

*अध्यक्ष, संगीत विभाग, मगध महिला महाविद्यालय, पटना
**शोध प्रज्ञ, संगीत विभाग, पटना विश्वविद्यालय, पटना

''वीणावादिनी पत्रिका'', ''संगीत प्रकाशिका'' में प्रकाशित आकारमातृक स्वरलिपि पद्धति में लिपिवद्ध अंग्रेजी एवं फारसी गीत, विभिन्न लोकसंगीत, बाउल, कीर्तन हास्यरस के गीत, दक्षिणी गीत, यंत्र के गत्, संथाली गीत, विभिन्न सुर रचयिताओं के रचित गीतों के सुविशाल भण्डार से एकत्रित करना एक दुर्लभ कार्य है। 5 ध्रपद, धमार, ख्याल, टप्पा, तराना आदि शास्त्रीय संगीत, बंगला के विभिन्न भक्ति संगीत एवं पुरातनी सुर, यंत्र के गत् प्रादेशिक एवं पाश्चात्य संगीत के रीति से गीत रचना के माध्यम से ज्योतिरिन्द्रनाथ अपने संगीत के भंडार को समृद्ध किये थे। इसी तरह उनके संगीत में ''त्रिवेणीसंगम' का समावेश हुआ। इसके पूर्व तथा 19वीं सदी के संगीत रचनाकारों में यह पद्धति नहीं पाइ गई।

ज्योतिरिन्द्रनाथ के संगीत में 'त्रिवेणीसंगम' का दृष्टांत को तालिकावद्ध किया गया :-

ज्योतिरिन्द्रनाथ के गीत	राग/ताल	मूल गीत
• अगणन भूवन	नाटनारायण/झाँपताल	असुरण डरन-ध्रुपद
• आय सबे मिले	पंखार/सुरफाँक्ता	आय री मा- ध्रुपद
• ऐ जे दैखा जाए	सिन्धु विजय/तेवड़ा	जयति जय- ध्रुपद राजाधिराज
• देही हृदये सदा	निसासाग/झापताल	देवी दुर्गे सदा- ध्रुपद
• धन्य तुमि धन्य	देवनट/तालफेरता	राम गुण ग्रामा - ध्रुपद
• निकटे निकटे थाको	कोकभ/झाँपताल	निपट निपट बास - ध्रुपद
• हे प्राणाराम निरंजन	शुक्ल विलावल/चारताल	राजा राम निरंजन -ध्रुपद
• कैमोने जाबो बलो	कामोद/धमार	मतवारों ठहरो - धमार
• तबो आशावाणी	देश / धमार	काहे ब्रज छोड़ चलि - धमार
• व्याकुल होए तौबो	खमाज/ धमार	ब्याकुल भँई ब्रजनारी-धमार
• आहा की रूप	केदार/मध्यमान	आबा घर आए - ख्याल
• आहा की चाँदिनी रात	भूपाली /कावाली	मोरे मन्दिले रा - ख्याल
• मध्याह्न बैला झाँ झाँ	मधुमाद सारंकग/ ढिमा तेताला	कोयला बोले रे - ख्याल
• की कोरि सजनी	लुम झिँझिट/ठुमरी	क्या करूँ सजनी - ख्याल
• की सुन्दर प्रभात रे	जोयानपुरी-टोड़ी/एकताला	खगवा बोलत रे - ख्याल
• बिमल उषाए तोमारि	बहुली/ढिमा तेताला	तोतरा नेहार बोले - ख्याल
• चरने बाजे आहा	भूपाली/कवाली	पायला बाजनि - ख्याल
• दरशन दाओ हे प्रोभु	सूरह/तेयट	मोतीरा मांगा दे - ख्याल
• उहुहु हुहुहु हिहिहि	यमन-भूपाली/एकता	गत्/तराना
• कतोदिन गतिहीन	नटमल्लार/कवाली	दारा दिम् दारा - तराना

ज्योतिरिन्द्रनाथ के गीत	राग/ताल	मूल गीत
• कैमोने फिरिया जाओ	अहं भूपाली/ कवाली	ताना नित्रेमृता - तराना
• छिलि जेखाने सेखाने	खमाज/कवाली	---- तराना
• हे अन्तर्यामी त्रही	सिंधु/मध्यमान	ओ मियां बेजानुवाले-पंजाबी टप्पा
• बाक्स भौरा लाक्शो टाका	सोहिनी-बाहार/आड़खैमटा	खैमृटा चाल
• से प्रेम कोथा रे	झिंझिट-खमाज/खैमृटा	खैमृटा

• हाःहाःहाःहाःहाःहाः	खमाज/आड़खैमूटा	अंग्रेजी तरह खैमटा
• गा तोलो रे	ललित/आड़ाठेका	विद्यासुन्दर यात्रा
• तोमरा जा होक भैला	आड़खैमूटा	बाऊल सुर
• बलो बलो प्रिये	बंगला ललित/आड़ाठेका	पुरातनी बांग्ला
• मलयानील परिहार	----	संस्कृत
• अन्तरेर धन प्राणरंजन	माद्राजी सिन्धु/कवाली	माद्राजी
• धीरे धीरे वायु	मुम्बई/कवाली	मन्दं मन्दं वायौ (दक्षिणी)
• विघ्नहरण प्रभु शांतिदाता	कर्नाटी तिलक-कामोद/तेवड़	विघ्नहरण वुध (कर्णाटी ध्रुपद)
• मिलिये सकले	माझ/एकताल	महाराष्ट्रीय
• कैसे कहारवा जाल	कहरवा	उपजातीय सुर
• छेड़े दे छेड़े दे आमाय	सिंधु-काफी/मध्यमान	बैठकी (अंग्रेजी तरह)
• प्रेमेर कथा आर बोलो ना	झिँझिट/कवाली	इटालियान गत्
• आय रे आय	ला मार्सेई	ऐलौं जा फाँ (फारसी)
• अन्तरतर अन्तरतम	आलहैया/कवाली	श्रीकंठ सिंह
• बिजन मम मन्दिर	सूरट-जयजयन्ति/झाँपताल	देखिये हृदय मंदिरे (यदुभट्ट)

उपर दी गई तालिका में हम यह पाते हैं कि ज्योतिरिन्द्रनाथ के गीतों में जिस प्रकार बहुप्रचलित राग - रागिनियों का प्रयोग हुआ है उसी प्रकार कृछ अल्प प्रचलित एवं अप्रचलित राग - रागिनियों का भी प्रयोग हुआ है। जैसे -

नट नारायण, पंखार, सिंधुविजय, निसासाग, देवनट, लूम झिँझिट, बहुली, मधुमाद सारंग, अहं भूपाली इत्यादि।

संगीत के त्रिवेणीसंगम के आदर्श अर्थात बहुमुखी संगीत सृष्टि के वातावरण को ज्योतिरिन्द्रनाथ ने ही सर्वप्रथम ठाकुर परिवार में आरंभ किए थे। स्वरचित गीतों के अलावा अन्य संगीतकारों के गीतों के प्रति भी स्वर्णकुमारी, रवीन्द्रनाथ, इन्दिरा देवी, सरला देवी, प्रतिभा देवी, हीतेन्द्रनाथ, ऋतेन्द्रनाथ इत्यादि को प्रभावित किए थे।[7]

जिसके फलस्वरूप सरला देवी के शतगान नामक पुस्तक में ज्योतिरिन्द्रनाथ द्वारा प्रतिष्ठित त्रिवेणीसंगम का प्रभाव देखा गया। इसमें तरह - तरह के गीतों के स्वरलिपि के संग संस्कृत, हिन्दी, पंजाबी, गुजराती, मराठी, कनाड़ी एवं फारसी भाषा के लोक संगीत भी है।

रविन्द्रनाथ भी ज्योतिरिन्द्रनाथ के त्रिवेणीसंगम से बहुत प्रभावित हुए थे। उनकी संगीत सृष्टि में त्रिवेणीसंगम के आदर्श सहज रूप में देखे जा सकते हैं जिसका कारण था वे विभिन्न प्रादेशिक संगीत के मूल गीतों को अपनी कानों से सुनकर उनका अनुशरण के संगीत रचना कर अपनी गीतों में भी त्रिवेणीसंगम का आदर्श को स्थापना किए। उन्होंने अपनी जिन्दगी का आधा समय इसी काम में व्यतीत किए। 8

स्वरलिपि-गीतिमाला त्रिवेणीसंगम के विषय में वर्णित तथ्यों का एक महामूल्यवान ग्रंथ है। इसमें गीतों के स्वरलिपि के साथ विभिन्न भाषा के विभिन्न तरह के एक सौ गीत है। इसमें संस्कृत, हिंदी, बागला, पंजाबी, गुजराती, मराठी, फारसी, भाषा के गीत, वेद गान, द्विजेन्द्रनाथ, सत्येन्द्रनाथ, हेमेन्द्रनाथ, सोमेन्द्रनाथ, गणेन्द्रनाथ, बलेन्द्रनाथ, राजा राममोहन राय, स्वर्ण कुमारी, सौदामिनी, ज्योतिरिन्द्रनाथ, अक्षय चौधरी, बिहारी लाल, बंकिम चन्द्र, दाशरथी राय, रवीन्द्रनाथ, इन्दिरादेवी के गीत, बाऊल, सारी, तेलेना, चतुरंग इत्यादि गीत इस पुस्तक में स्थान ग्रहण किए हैं।[9]

ज्योतिरिन्द्रनाथ के गीत स्वरलिपि -गीतिमाला, तत्वोबोधिनी पत्रिका, वीणा वादिनी पत्रिका, संगीत प्रकाशिका, आनन्द-संगीत पत्रिका, ब्रह्मसंगीत, स्वरलिपि के 6 खण्ड, साधना, भारती एवं उनकी रचित नाटकों में पाए जाते हैं। इन गीतों के स्वरलिपि

विभिन्न स्थानों पर बिखरे हुए प्रकाशित होने के कारण एवं ज्योतिरिन्द्रनाथ के त्रिवेणीसंगम के गीतों का क्रमबद्ध तालिका न होने के कारण उनका भगीरथ परिश्रम उपर्युक्त सम्मान न पा सका।

संदर्भ :-

1. जीवन-स्मृति, रवीन्द्रनाथ ठाकुर,
2. ज्योतिरिन्द्र नाथ ठाकुर का गीत : आलोचना एवं संगीत लिपि, अमल कुमार मित्र, प्रकाशकाल - 1998, पृष्ठा - 51
3. वही, पृष्ठ - 52
4. वही, पृष्ठ - 53
5. वही, पृष्ठ - 54
6. वही, पृष्ठ - 54
7. वही, पृष्ठ- 51
8. ऋतुः विषय बंगला गान, अमल कुमार मित्र, नभम्बर 1999, पृष्ठा- 26
9. ज्योतिरिन्द्रानाथ ठाकुर का गीत : आलोचना एवं संगीतलिपि, अमल कुमार मित्र पृष्ठा : 68

भारतीय लोक संगीत की यात्रा

मेघना कुमार

सारांश

भारतीय संगीत का आधार लोक संगीत है। भारतीय शास्त्रीय संगीत हमारे लोकसंगीत का ही परिस्कृत स्वरूप है। भारत के कई क्षेत्रों में लोक संगीत का एक बहुत बड़ा कोश है। सामान्यतः एक मान्यता है की जिस देश की लोक संस्कृति उन्नत होती है; निश्चित रूप से उस देश का इतिहास गौरवपूर्ण होता है। हमारी लोक संस्कृति और इसमें भी लोक संगीत का तो कहना ही क्या, यह विभिन्न सुंदर और सुगंधित पुष्पों के पुष्पगुच्छ की तरह है। कुछ दूरी तय करें तो इसका अलग स्वाद पाएंगे। एक छोटी सी भी यात्रा करने पर यदि यात्री के स्वास्थ्य पर कुछ प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है तो लोग कहते हैं कि पानी बदल गया है इस लिए स्वास्थ्य बिगड़ गया है। हमारे देश में जिस प्रकार कुछ दूर बाद पानी बदल जाता है उसी प्रकार बोली और बोली ही नही अपितु बोली के बोलने का ढ़ंग भी बदल जाता है। इसी तरह हमारा लोक संगीत भी है प्रत्येक कुछ दूरी के बाद एक नया स्वाद, किन्तु ढ़ंग बदलने से इसकी मधुरता में कोई अंतर नही आता है।

सूचक शब्द—लोक, गीत, वैदिक, यात्रा, मौसम, प्रचलित

उद्देश्य

इस शोध पत्र में हम लोक संगीत की वैदिक काल से शुरू हुई यात्रा पर प्रकाश डालेंगे तथा इस समय प्रचलित कुछ लोक गीत एवं नृत्य से परिचय कराएंगे।

परिकल्पना

लोक संगीत का प्रभाव शास्त्रीय संगीत पर भी रहा है इस प्रभाव को काकू के अंतर्गत अध्ययन किया जाता है। कुछ लोक संगीत उभर के सामने आए और फिल्म संगीत में भी अपना स्थान बना पाए जैसे राजस्थान का घूमर, महाराष्ट्र का लावनी इत्यादि किन्तु कुछ लोक संगीत अपने अस्तित्व को खोने की सीमा पर हैं। जिनके सृजन और संरक्षण की अत्यंत आवश्यकता है।

विषय की ओर

भारत का लोक संगीत वैदिक काल से ही चला आ रहा है। लोक संगीत का उल्लेख वेदों में अनेक जगहों प्राप्त होता है। ये उल्लेख यह सिद्ध करते हैं कि हमारा लोकसंगीत भी वैदिक काल से ही अपनी यात्रा प्रारम्भ कर चुका था। गीत प्रबंधों का उल्लेख ऋग्वेद में गीति, गाथा, गायत्र, तथा साम के नाम से पाया जाता है। इनमे गाथा एक परम्परागत गीत प्रकार है जिसका गायन धार्मिक तथा लौकिक समारोह में किया जाता था। वेदों में लोक संगीत एवं लोक वाद्यों का उल्लेख कई जगहों पर पाया जाता है। लोक संगीत शास्त्रीय संगीत के समानांतर ही विकासोन्मुख रहा। शनै शनै जनभावनाओं के अनुसार इनमें बदलाव भी हुए। चूँकि हमारा भारत देश अनेकता में एकता की संस्कृति वाला देश है तथा प्रथम राष्ट्रपति डॉक्टर राजेन्द्र प्रसाद ने कहा कोस कोस पर पानी बदले चार कोस पर बानी। हर कुछ

सहायक आचार्य, गायन विभाग,संगीत एवं मंच कला संकाय काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

दूरी पर बोली बदल जाती है। हम ने जहाँ तक अनुभव किया है कि केवल बोली ही नही बल्कि बोलने का ढ़ंग भी बदल जाता है। बनारस भोजपुरी भाषी क्षेत्र है इसके निकट ही गाजीपुर भी भोजपुरी भाषी क्षेत्र है किन्तु वहां की भोजपुरी बोलने का ढ़ंग बनारस से अलग है। भदोही, मिर्ज़ापुर, बलिया, गोरखपुर, देवरिया, कुशीनगर, सिवान इत्यादि भोजपुरी भाषी क्षेत्र है लेकिन सभी जगह भोजपुरी बोलने का ढ़ंग एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न है। ये बात हम ऐसे समझ सकते हैं जैसे शास्त्रीय संगीत के भिन्न भिन्न गायन घराने हैं। सभी घरानों के गायक एक ही राग गाते हैं। किन्तु सभी घरानों का गायन का ढ़ंग भिन्न भिन्न होगा। अभी तो हमने केवल एक भाषा भोजपुरी की बात की है जैसा कि हम ने ऊपर बताया कि हमारा भारत देश अनेकता में एकता की संस्कृति वाला देश हैं। यहाँ अनेक भाषाओं एवं बोलियों का प्रचार है तथा भोजपुरी की तरह ही अन्य भाषाओं के बोलने का ढ़ंग भी कुछ दूर के बाद बदल जाता हैं। निश्चित रूप से इसका प्रभाव हमारे लोकसंगीत पर पड़ता है। ये अनेक तरह की बोलियां तथा इनके बोलने का ढ़ंग इस और संकेत करता हैं कि हमारा लोक संगीत अपार समृद्ध है।

हम अपने लोक संगीत की बात करते हैं। हम जब अपना ध्यान लोक संगीत पर केन्द्रित करते हैं तो हम पाते हैं कि हमारी सांगीतिक यात्रा कितनी बृहद एवं विस्तृत रही है। प्रत्येक समय, मौसम, ऋतु एवं कार्य के लिए अलग अलग गीत हैं। प्रातः उठने से ले कर रात्रि शयन तक के लिए भिन्न भिन्न गीत हैं, प्रत्येक उत्सव के लिए गीत हैं। अष्ट प्रहर के गीत, दिनचर्या के कार्य के समय गाये जाने वाले गीत, मौसमी गीत, विवाह में अलग अलग रिवाज के समय के गीत, अन्य संस्कारों में गाए जाने वाले गीत, पूजा-पाठ अथवा धार्मिक उत्सव पर गाए जाने वाले मंगल गीत, यात्रा के समय गाये जाने वाले गीत आदि। इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारा लोक संगीत कितना समृद्ध है। योग शास्त्र के विद्वानों ने इस ओर संकेत किया कि किसी भी कार्य को करते समय यदि मन प्रसन्न हैं तो अभीष्ट कार्य विधिवत सम्पन्न होता है। जहाँ कार्य को करते समय गीत गाए जा रहे हैं तो हम इस बात को समझ सकते हैं कि ये गीत बस यूँ ही नही बने बल्कि इनके पीछे एक वैज्ञानिक सोच थी। एक कारण और रहा होगा इन तमाम गीतों के सम्बन्ध में, चुँकि यह समय यांत्रिक युग का समय नही था, इस समय जितने भी कार्य होते थे। ये सब हाथ से ही किये जाते थे और जब हम कोई शारीरिक श्रम करते हैं तथा इस और सोचते हैं की हमने आज बहुत परिश्रम किया और हम थक गये तो हम जरुर थक जाते हैं, शायद इसलिए भी इन गीतों का प्रचलन रहा हो जिससे वे लोग अपने कार्यों के बीच थकान की अनुभूति ना करें। अभी हाल ही में झाँसी मेडिकल कालेज में एक शोध किया गया इसमें एक स्वस्थ व्यक्ति को अस्पताल में बिस्तर पर लाया गया और उससे ये बताया गया की उसे खून देना है लेकिन वास्तव में उसे ग्लूकोज चढाया जा रहा था। जब उससे बार बार बताया गया की उसने अपना तीन यूनिट खून दे दिया और अब उसका शरीर पीला पड़ जाएगा वो बहुत कमजोर हो जाएगा। जब इसके शरीर से सिरिंज निकाली गई तो वो सचमें कमजोर हो चुका था शरीर पीला पड गया था। कहने का तात्पर्य है कि जो बातें दिमाग सोच लेता है वही शरीर करता है और ये बात शायद उस समय उन लोगों को पता थीं।

जिन्हें हम अपनी आधुनिक सोच और विकास के आगे पिछड़ा एवं अविकसित बताते है उनकी सोच कितनी वैज्ञानिक है हम केवल यहीं की बात नही कर रहे अन्य अनेक जगहों पर जब हम शांति से बैठ के सोचते हैं तो पाते हैं कि किसी भी कदम के पीछे कितनी वैज्ञानिक कसौटियां होती थीं। हमारी नई पीढ़ी के लिए ये आवश्यक है की हम हमारे पुराने समस्त संस्कार, रीति रिवाज, आदि को समझें, देखें और इनके पीछे का विज्ञानं जाने तथा इन्हें समेंटे। पुराने संस्कारों को समेटने की बहुत आवश्यकता है। आज नई पीढ़ी आधुनिकता और वैज्ञानिकता के प्रवाह में अपनी मूल संस्कृति को भूल रहे है या जानना ही नही चाहते है। ऐसे समय में उन्हें इस ओर देखना चाहिए कि हमारा लोक व्यवहार कितना उन्नत था। यहाँ हम कुछ लोक गीतों एवं नृत्यों के सम्बन्ध में चर्चा कर रहे हैं।

(1) **लावनी** :- महाराष्ट्र में एक विशेष प्रकार के गीतों को लावणी कहा जाता है, जो अधिकतर

मराठी भाषा में होता है। लावनी एक अति प्रचलित गीत का प्रकार रहा है किन्तु कजली के प्रचार में आने से लावनी बहुत कम सुनने को मिलती है। कुछ लोगों का विचार है की लावनी गीत का प्रचार इलाहाबाद, लखनऊ, कानपुर, बनारस, दतिया आदि शहरों में भी रहा है। ऐसा कहते हैं की लावनी पहले से रचित नहीं होती थी, बल्कि प्रस्तुती के समय ही इसका निर्माण होता था।[2]

(2) **बिरहा** :- उत्तर प्रदेश के भोजपुरी भाषी पूर्वी क्षेत्रों में बिरहा गायन का प्रचलन है। बिरहा विरह वेदना की अभिव्यक्ति करता हुआ एक लोक गीत है जो कालान्तर में उल्लास की अभिव्यक्ति से जुड़ गया है। वर्तमान में बिरहा धोबी तथा अहीर जातियों में प्रचलित है। कुछ क्षेत्रों में बैगा जाती के आदिवासियों में (मिर्जापुर के क्षेत्र में) भी बिरहा गायन की उपलब्धता पाई जाती है।3

(3) **रोफ गीत** :- यह गीत कश्मीरी महिलाओं के सम्मिलित गान और नृत्य से पूर्ण होता है। रोफ प्रायः रमज़ान व ईद के दिनों में गाया जाता है। युवतियां दो दलों में विभाजित होती हैं इनमे एक दल एक पंक्ति गाता है फिर दूसरा दल दूसरी पंक्ति गाता है। इसमें कोई वाद्य नही होता है युवतियों का पाद संचालन ही ताल का काम करता है।[4]

(4) **आल्हा** :- आल्हा बुंदेलखंड के गाथा गायन की लोक विधा है। उत्तर प्रदेश तथा अन्य हिंदी भाषी प्रदेशों में आल्हा गायन लोक स्तर पर होता है। महोबा के राजा परमाल के योद्धा, वीर भाइयों आल्हा ऊदल के नाम पर इस गायन विधा का नाम आल्हा पड़ा। इन वीर भाइयों की अनेक राजाओं से बावन लड़ाईयां हुई, जिनका वर्णन इन गीतों में किया जाता है।[5]

(5) **भवाई** :- भवाई का सम्बन्ध मुख रूप से राजस्थान और गुजरात प्रदेश से है। इन प्रदेशों में आज भी मंडलियाँ घूम घूम कर इस नृत्य नाटिका को प्रदर्षित करती हैं। इसके अभिनय के लिए किसी भी ऊँची भूमि, मन्दिर अथवा घर के चबूतरे पर लोक मंच का निर्माण किया जाता है। इस नृत्य नाटिका की मुख्य विशेषताए इसकी वेश भूषा, दैनिक जीवन से सम्बन्धित घटनाओं का अभिनय तथा धार्मिक कथाओं का व्यवहार है। इस समस्त नृत्य नाटिका में लोक गीतों का गायन भी होता है। सारंगी, नफरी, नगाड़े, ढोल, और मंजीरे आदि वाद्यों का प्रयोग इसमें मुख्य रूप से होता है।[6]

(6) **संस्कार गीत** :- भोजपुरी भाषी क्षेत्र में संस्कारों के लिए गीत हैं जैसे तिलक, शगुन, देवी गीत, मंगल विवाह, सुहाग जोग, बन्ना बन्नी उठान, गारी, सोहर, जनेऊ, मुंडन, हरदी इत्यादि।

इस प्रकार दक्षिण भारत का कहावोम्मन, केचिलम्बू, किरिकट्टी, बंगाल का भटियाल,सारी गीत, झुमरा गीत, महाराष्ट्र का नागपंचमी गीत, जनजातीय गीत, ढफ व डांडिया गीत, कश्मीर का छुकरी गीत इत्यादि हमारी लोक संस्कृति के उत्कर्ष को दर्शाते है।

निष्कर्ष

हमारी गौरवशाली लोक संस्कृति का परिचायक हमारा लोक संगीत है। लोक संगीत के रूप में एक बहुमूल्य सम्पदा हमारे पास है। हम नई परम्परा को सीखें लेकिन अपनी इन अनमोल पुरानी विरासतों को भी सम्हाले। यही हमारा मूल है और अपने मूल से अलग हुआ वृक्ष अपनी आयु खो देता है। अतः हम अपने मूल से जुड़े रह कर ही आकाश की अनंत उचाईयों को छू सकते है।

सन्दर्भ ग्रन्थ

(1) भारतीय संगीत का इतिहास, डॉ. शरच्चन्द्र श्रीधर परांजपे, चौखम्बा विद्याभवन,2010, पेज 20
(2) भारतीय लोक संगीत (संरक्षण, सम्वर्धन, एवं सम्भावनायें), राधा पब्लिकेशन्स), वीणा श्रीवास्तव), पृ. सं. 552
(3) भारतीय संगीत : वैज्ञानिक विश्लेशण प्रो. स्वतंत्र शर्मा पृ. सं. 320
(4) एन.टी.ए., यू.जी.सी. संगीत पेपर 2, अरिहंत पब्लिकेशन्स (इंडिया) लिमिटेड,2021-22, पेपर-2 पेज57
(5) भारतीय संगीत : वैज्ञानिक विश्लेषण प्रो. स्वतंत्र शर्मा पृ. सं. 322
(6) संगीत रत्नावली, अभिषेक पब्लिकेशन्स, अशोक कुमार 'यमन' पृ. सं. 555

संगीत का धार्मिक वैज्ञानिक और प्राकृतिक पक्ष

डॉ. रामशंकर*

जितेन्द्र सिंह**

सार-

संगीत के ऐतिहासिक पक्ष के साथ प्रकृति से संगीत की उत्पत्ति तथा लोक संगीत व शास्त्रीय संगीत के महत्व पर प्रकाश तथा संगीत का धार्मिक, वैज्ञानिक और प्राकृतिक पक्ष– इस अध्ययन में संगीत विद्यार्थियों के समक्ष कुछ तथ्यों के साथ एक नजरिए को पेश किया गया है–जो शास्त्रीय संगीत से लोकसंगीत तथा धार्मिक व प्राकृतिक पक्ष को परिभाषित करता है।

भूमिका-

आज हमारे भारतीय शास्त्रीय संगीत की महत्ता दिन-व-दिन घटती जा रही है युवाओं में शास्त्रीय संगीत सीखने या उसे बढ़ाने की लालसा भी कम हो गई है। ऐसा होना भारतीय शास्त्रीय संगीत के भविष्य के लिए बहुत असंतोषजनक बात है, जबकि संगीत हमें क्या कुछ देता है हमें इसकी पूरी जानकारी भी नहीं। आइए जानते हैं इतिहास के साथ वर्तमान और लोक संगीत के बारे में।

प्रागैतिहासिक काल से ही भारत में संगीत की समृद्ध परंपरा रही है गिने-चुने देशों में ही संगीत की इतनी पुरानी एवं इतनी समृद्ध परंपरा पाई जाती है। माना जाता है कि संगीत का प्रारंभ-

सामगीतीरतो ब्रह्म वीणाऽसक्ता सरस्वती।
किमन्ये यक्षगन्धर्वदेवदानवमानवाः।[1]

अर्थात ब्रह्मा सामगान में रत हैं और सरस्वती वीणा में आसक्त हैं। यक्ष, गंधर्व, देव-दानव तथा मनुष्य आदि अन्य की तो बात ही क्या है? अतः संगीत परमात्मा की अनुपम कृति है जिसका न कोई आदि न कोई अंत है संगीत 'ब्रह्मा' का साक्षात रुप एवं ईश्वर का प्राणी मात्र के लिये एक अद्वितीय वरदान है। अन्य अनेक विधाओं की भांति संगीत का आधार भी वेदों को ही माना गया है। संगीत की सभी कलाओं में संगीत कला श्रेष्ठ है। दूसरे शब्दों में माना जाता है कि संगीत का प्रारंभ सिंधु घाटी की सभ्यता के काल में हुआ। हालांकि इस दावे का एकमात्र साक्ष्य है उस समय की एक नृत्य बाला की मुद्रा में कांस्य मूर्ति और नृत्य-नाटक और संगीत के देवता की पूजा का प्रचलन। सिंधु घाटी की सभ्यता के पतन के पश्चात वैदिक संगीत की अवस्था का प्रारंभ हुआ। जिसमें संगीत की शैली में भजनों और मंत्रों के उच्चारण से ईश्वर की पूजा अर्चना की जाती थी। इसके अतिरिक्त दो भारतीय महाकाव्यों रामायण और महाभारत में संगीत का मुख्य प्रभाव रहा। भारतीय इतिहास के अनुसार रामायण की रचना त्रेता युग में हुई। यूरोपीय विद्वानों के अनुसार रामायण की रचना ईसा से लगभग 600 से 300 वर्ष पूर्व हो चुकी थी।

इसमे जो कुछ बाद में जोड़ा गया वह ई. शती सन् 200 तक संपूर्ण हो चुका था। कुछ यूरोपीय विद्वानों का मत था कि रामायण यूनान के कवि 'होमर' से प्रभावित हुआ था किंतु अब सभी यूरोपीय विद्वान इस बात से सहमत हैं कि यवन या यूनान

सहायक आचार्य, गायन विभाग संगीत एवं मंच कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
शोध छात्र, गायन विभाग, संगीत एवं मंच कला संकाय काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

का रामायण पर कोई प्रभाव नहीं है। यह बात भी प्रमाणित हो चुका है कि रामायण का काल बुद्ध से पूर्व का था।[2]

वैसे एक झूठ को छिपाने के लिए अनेक झूठ बोलने पड़ते हैं। आपने एक बार झूठ बोल दिया है हड़प्पा सभ्यता के बाद उत्तरी भारत में वैदिक युग आया है। अब इसे साबित करने के लिए आप दूसरा झूठ बोल रहे हैं कि उत्तरी भारत में ताम्र पाषाण युग के बाद सीधे लौह-युग आ गया, आपने कांस्य युग की सभ्यता अर्थात बौद्ध सभ्यता को वैदिक युग की झूठी तोप से उड़ा दिया।[3]

बहरहाल, भारत में सांस्कृतिक काल से लेकर आधुनिक युग तक आते-आते संगीत की शैली और पद्धति में जबरदस्त परिवर्तन हुआ है। भारतीय संगीत के इतिहास के महान संगीतकारों जैसे-स्वामी हरिदास, तानसेन, अमीर खुसरो आदि ने भारतीय संगीत की उन्नति में बहुत बड़ा योगदान किया है, जिसकी कृति को पंडित रविशंकर, पंडित भीमसेन, गुरुराज जोशी, पंडित रामाश्रय झा "रामरंग",पंडित जसराज, प्रभा अत्रे,सुल्तान खां, आदि जैसे संगीत प्रेमियों ने आज के युग में भी कायम रखा हुआ है।

वाल्मीकि रामायण में भेरी, दुन्दुभी, मृदंग, पटह, घट, डिमडिम, आडम्बर, वीणा इत्यादि वाद्यों और जाति गायन का उल्लेख मिलता है जाति राग का आदि रूप है। महाभारत में सप्तस्वरों और गंधार ग्राम का उल्लेख आता है। महाजनक जातक (लगभग 200 ई. पूर्व) में चार परम महा शब्दों का उल्लेख है, इन्हें राजा उपाधि रूप में विद्वान को प्रदान करता था।

पूरनानुरू और पत्तुपाट्टु (100 से 200 ई.) नामक तमिल ग्रंथों में अवनद्ध (चमड़े से बने हुए) वाद्यों को बहुत महत्व दिया गया है। ऐसे वाद्य का विशिष्ट स्थान होता था, जिसे मुरसुकट्टिल' कहते थे। तमिल के परिपादल (100 से 200 ई.) ग्रंथ में स्वरों और सात 'पालइ' का उल्लेख है 'पालइ' मुच्छर्ना से मिलता है उसमें 'याल' नामक तंत्री वाद्य का भी उल्लेख है,याल के एक प्रकार में एक सहस्त्र तक तार होते थे।

दक्षिण के एक बौद्ध नाटक सिल्लपडिगारन (300 ई.) में भी कुछ संगीत विषयक बातों का समावेश है इसमें वीणा, याल, पटह इत्यादि वाद्यों का जिक्र है उस समय के प्रचलित रागों का भी इसमें उल्लेख है उसी समय के "तिवाकरम" नामक एक जैन कोष में भी संगीत के विषय में कुछ जानकारी दी गई हैं। इसमे सम्पूर्ण षाड़व-औडव रागों का उल्लेख तथा श्रुतियों के साथ-साथ सात स्वरों का वर्णन है।

कालिदास के नाटकों में संगीत की चर्चा आई है। मालविकाग्निमित्र में तो संगीत के दो शिष्यों की पूरी प्रतियोगिता ही दिखलाई गई है।

भरत का नाट्यशास्त्र-

भारतीय संगीत का जो सबसे प्राचीन ग्रंथ मिलता है वह भरत का नाट्यशास्त्र। भरत के काल के विषय में विवाद है। यह एक संग्रह ग्रंथ है, इसलिए इसके काल का निर्णय करना और कठिन हो गया है। विद्वान लोग इसका काल लगभग ईसा पूर्व 500 से 400 तक मानते हैं। नाट्यशास्त्र में श्रुति, स्वर, मुच्छर्ना जाति और ताल का विशद विवेचन किया गया है। भरत ने श्रुतियों का विचार स्वर की स्थापना के लिए किया है। उन्होंने 4 श्रुतियों के अंतराल पर षड्ज रखा है, उसके अंतर तीन श्रुतियों के अंतराल ऋषभ, दो श्रुतियों के अंतराल पर गांधार, चार श्रुतियों के अंतराल पर मध्यम, चार श्रुतियों के अंतराल पर पंचम, तीन श्रुतियों के अंतराल पर धैवत, दो श्रुतियों के अंतराल पर निशाद रखा है, इस प्रकार श्रुतियों की कुल संख्या 22 मानी है। भरत ने षड्ज ग्राम और मध्य ग्राम ऐसे 2 ग्राम माने हैं, उपरोक्त जो श्रुतियों का अंतराल दिया गया है वह षड्ज ग्राम का है, यह ग्राम षड्ज से प्रारंभ होता है इसलिए इसका षड़ज ग्राम नाम पड़ा। जो ग्राम मध्यम से प्रारंभ होता है उसका नाम "मध्यमग्राम"। मध्यमग्राम में मध्यम चतुश्रुति, पंचम त्रिश्रुती, धैवत चतुश्रुति, निशाद द्विश्रुति, षड्ज चतुश्रुति ऋषभ त्रिश्रुति एवं गांधार द्विश्रुति होता है गांधार ग्राम भरत को मान्य नही है।

मूच्छर्ना का अर्थ है उभार या चमक। सात स्वरों का क्रम युक्त प्रयोग की संज्ञा मूच्छर्ना है।

क्रमयुक्तास्वराः सप्तमुच्छर्नास्त्वभिसंज्ञाक्ताः
भरत, व, सं अ . 28 पृ.435

भरत ने षड्ज व मध्यम दोनों ग्रामों में सात-सात मूर्च्छनायें मानी हैं। मूर्च्छनायें जाति-गान का आधार थीं। विशिष्ट स्वर विशेष प्रकार के सन्निवेश में जाति कहलाते थे, जिसमें ग्रह, अंश, तार, मंद्र, न्यास, अपन्यास, अल्पत्व, बहुत्व, षाड़त्व एवं औडत्व के नियमों द्वारा स्वर सन्निवेश किया जाता था, वह जाति कहलाता था। जाति-गान संगीत की बहुत विकसित अवस्था का सूचक है। भरत के समय में जाति-गान परिपूर्ण अवस्था का सूचक था और भरत के समय में जाति-गान परिपूर्ण अवस्था में पहुंचा हुआ था। जाति ही राग की जननी है, भरत ने 7 ग्राम राग ही गिनायें हैं और उन्होंने यह बताया है कि वे जाति से प्राभूत होते हैं। नाट्य शास्त्र में चच्चत्पुट, चाचपुट अथवा चंचुपुट षटपितापुत्र अथवा पंचपाणी संपत्केष्टक उद्धद्धअथवा उद्धट तालों का उल्लेख है। ये क्रमशः8, 6, 12, 12 और 6 मात्राओं के ताल थे।4

प्रकृति और संगीत-

लोक संगीत का प्रकृति से गहरा संबंध है, इस प्रकार का संगीत वास्तव में प्रकृति में निहित है और लोगों के प्राकृतिक संगीत स्वाद को आवाज देता है यह वास्तव में प्राकृतिक जुगाड़ है? जो हर देश में लोगों की संगीत समझ के ढांचे को निर्धारित करती हैं। ध्वनि तरंगे और संगीतकारों का दिमाग सभी प्रकृति का हिस्सा है, लेकिन संगीत पर्यावरण की जोड़ी बहुत गहरी है। कई क्षेत्रों में 1980 के दशक और 1990 के दशक में छोटे स्तर के समाजों के बुनियादी अध्ययनों ने संगीत की पारिस्थितिकी में आकर्षण अंतर्दृष्टि प्राप्त की है! जो सूजी से अमेजन (एंथनी, सीजर) में मलेशिया के टेमियर (मरीना पुलिस) से करौली तक है, टेड लेविन के टुवन सहयोगियों के लिए पापुआ, न्यू गिनी (स्टीवन फेल्ड) पर।

आबादी के इन बिखरे हुए परिक्षेत्रों में सैकड़ों की संख्या में केवल एक तटस्थ्य इकाई नहीं है, बल्कि लोगों के जीवन में एक सक्रिय एजेंट है, अपने सपनों को भेदते हुए और अपनी कल्पना को बारिश के जंगल और पर्वतीय जीवों के गहन अनुवाद के साथ भीगते हुए टेमर के लिए रोश मैन का कहना है कि ''सभी व्यक्तित्व सभी संस्थाएं, मनुष्य, अन्य जानवर, पौधे, पहाड़, कीड़े मकोड़े, बधे हुए आत्माएं हैं जो कि आधारित आत्माये हैं, जो कि अबाधित आत्माओं के रूप में मुक्त हो सकते हैं"। दुनिया जीवन के साथ प्रति ध्वनित होती है संभावित रूप से एनिमेटेड होने के साथ। उन्होंने अपने नदियों, पहाड़ों, और पशुधन के बारे में गायन किया और उन तरीकों को शामिल किया जो छाती और सिर के गुहाओं के अपने स्वयं के गुंजायमान संरचनाओं के साथ क्या कर सकते हैं,के लिफाफे को धक्का देते हैं।

करौली उन गीतों का निर्माण करता है जो गायकों और श्रोताओं को परिचित स्थानीय इलाकों के माध्यम से यात्रा पर ले जाते हैं और उन्हें जंगलों के भीड़ और पानी के गिरने वाले तर्ज पर बनाते हैं। भारतीय संगीत की भव्यता और उसके चमत्कारी गुणों से क्या कुछ संभव हो सकता है इसके प्रमाण हमारे पूर्वजों ने बहुत पहले ही संगीत जगत को दिए हैं। अपनी संगीत की आभा से जो रौशनी उन्होंने बिखेरी वह शायद ही दुनिया के किसी और देश में सुना या देखा गया होगा।

संगीत हमें जितना ही आध्यात्म के करीब ले जा सकता है उतना ही मनुष्य को मानसिक व शारीरिक सुख भी देता है, इसे संगीत के कई बड़े विद्वानों ने सिद्ध भी किया है। कहते हैं संगीत के सात सुरों में से किसी भी एक स्वर की एकाग्रता से साधना करो तो उसमें ईश्वर दिखने लगते हैं, किसी भी एक ताल की लय और उसकी गति के साथ निरंतर बहना ईश्वर प्राप्ति का साधन बन सकता है। यह कोई असंभव कार्य भी नहीं ऐसे कई भव्य चमत्कार भारतीय संगीत जगत में खो चुके हैं। बादशाह अकबर के नौ रत्नों में से एक हमारे मियां तानसेन का नाम आज भी बहुत गर्व के साथ लिया जाता है और लिया जाता रहेगा। उन्होंने अपने संगीत के प्रभाव से कितने ही चकित कर देने वाले करतब दिखाए जिससे कई बार राजमहल में दरबारी डस सहम भी जाते थे। भारतीय शास्त्रीय संगीत और उसके अनगिनत राग कोई साधारण चीज नहीं जान पड़ते। मुझे लगता है कि संगीत के सात सुरों और ईश्वरीय जादुई मंत्रों में कोई खास अंतर नहीं है, जरूरत है केवल उन्हें साधने की, किसी एक को भी साथ लिया तो संगीत हमें अपना लेती है।

निष्कर्ष-

भारतीय संगीत जितनी अध्यात्मिक है उतनी ही प्राकृतिक और उतनी ही वैज्ञानिक भी। इसका अध्ययन और अभ्यास हमें जितना ईश्वर से जोड़ता है उतना ही प्राकृतिक और विज्ञान के करीब भी ले जाता है इस दिशा में संगीत छात्रों का रुझान बढ़ाना भी उन्नति का एक मार्ग होगा. प्राचीन संगीत की शक्तियों का लुप्त हो जाना साधारण नहीं? लेकिन आम जनों का संगीत में रुचि न होना ही एकमात्र कारण है जिससे संगीत का भविष्य धुंधला है।

संदर्भ-

1. शारंगदेव पंडित, संगीत रत्नाकर, प्रथम स्वरगता अध्याय, प्रथम पदार्थ संग्रह प्रकरण, श्लोक 27
2. जयदेव ठाकुर सिंह, भारतीय संगीत का इतिहास, द्वितीय संस्करण, पृ. संख्या 155, 156, 157
3. इतिहास का मुआयना, डॉ राजेंद्र प्रसाद सिंह,सम्यक प्रकाशन, 32/33, पश्चिमपूरी, नई दिल्ली-110063, ISBN 978-93-89849-58-5, पृष्ठ संख्या 15
4. भरत का नाट्यशास्त्र,अध्याय 28 पृष्ठ संख्या 435

मिथिला की लोक संस्कृति

प्रियंका कुमारी

'लोक शब्द का प्रयोग ऋग्वेद् में स्थान एवं जीव तथा अशोक के अभिलेख में प्रजागण के रूप में हुआ हैं। संस्कृति का प्रयोग यजुर्वेद में संस्कार के अर्थ में हुआ है। अतः लोक-संस्कृति ही गत्यात्मक अभिव्यंजना है।

लोक की अपेक्षा संस्कृति विशेष परिवर्तनशील होती है। इस प्रकार लोक की अवधारणा एक अटल और अनन्त सागर की तरह है, जिसमें कालक्रम से विभिन्न संस्कृतियों का समावेश हुआ है। फलतः लोक का प्रत्यक्षत्व विलुप्त नहीं होता अपितु वह एक सशक्त प्रतिपक्ष के रूप में स्थापित हैं।

इस भू-भाग में आर्यागमन से पूर्व आर्येत्तर लोगों का बसोबास था। अभियानी प्रवृति के कारण आर्यो को वर्चस्व स्थापन के लिए घोर संघर्ष करना पड़ा। दशराज्ञयुद्ध, वृत्रसुर वध, कालियादमन आदि इसके शब्दांकित अभिलेख हैं। यह द्वंद्वात्मक स्थिति आज तक किसी न किसी रूप में कायम है। तथापि आंतरिक द्वंद्व के होते हुए भी सांस्कृतिक आदान-प्रदान की स्थिति रचनात्मक प्रयास के रूप में जारी है।

लोक वस्तुतः अभिजात्य संस्कार एवं पांडित्य चेतना से विलग परम्परित जीवन प्रवाह में जीते-जागते जन समुदाय को कहा जाता है। अतः लोक आर्य चेतना की अपेक्षा लौकिक चेतना से अधिक अनुप्राणित हैं। संस्कृति की आधारभूमि लोक है, शास्त्र उसका सुसंस्कृत और सुचिन्तिक रूप है जो आचार संहिता के रूपमें जीवन मूल्यों को निर्धारित कर लोक को अनुशासित-मर्यादित करता है। अतः लोकजीवन में लोक और शास्त्र की युगलबंदी सांस्कृतिक संक्रमण का उदाहरण बनी हुई है।

डॉ. रामप्रवेश सिंह (लोकायत और लोकदेवता मुजफ्फरपुर 1986 पृ. 2) के अनुसार लोक संस्कृति लोकजीवन की समष्टिगत चेतना का प्रतिफलन है। आर्यों ने सर्वप्रथम भाषा का संस्कार किया क्योंकि सांस्कृतिक परिवर्तन का पहला शिकार भाषा ही होती है। वैदिक और लौकिक संस्कृत, जनपदीय प्राकृत, अपभ्रंश (मिथिलापभ्रंश : अवहठ्ठ) और देसिल वयना (मैथिली) इस विकासक्रम का ज्वलंत उदाहरण है। तथापि आदिम भाषायी चेतना की प्रत्यक्षानुभूति जनपदीय भाषा साहित्य एवं कलात्मक आयामों में की जा सकती है। अतः लोक संस्कृति के विभिन्न आयामों के संरक्षण एवं कलात्मक विकास जनपदीय इतिहास की दृष्टि से विश्वस्तर पर अध्ययन-अनुशीलन के लिए अपरिहार्य विषय क्षेत्र बन गया है।

लोक का अर्थ द्रष्टा एवं वेद का अर्थ ज्ञाता होता है। आभिजात्य वर्ग लोक को हेय एवं वेद को पूज्य मानने लगा। लोक की मूलप्रवृति कलाधर्मी एवं काव्यधर्मी होती है। आदिम अवस्था में भी वह लोकानुरंजन और उत्सवधर्मिता को गुहाचित्रों में अभिव्यंजित करता रहा। कलान्तर में लोक और वेद की धारायें समान्तर रूप में प्रवाहित होती रही।

मिथिला की लोकसंस्कृति धर्मकेन्द्रित है, जिसका प्रत्यक्षीकरण थान गहबर, लोकदेवी-देवता, व्रतानुष्ठान, पर्व-त्यौहार, भगैत, सुमिरन, जल पूजन आदि में होता है। लोग जन्म को दैवीकृपा, आपदा-विपदा को दैवी प्रकोप एवं उन्नत कृषि को दैवी प्रसाद मानते हैं। धर्म के प्रति लोक आस्था की प्रांजल अभिव्यक्ति इस रूप में हुई है— 'धरम करैत जँ होअय हानि।

शोध छात्र, वि. वि. संगीत एवं नाट्य विभाग, ल. ना. मि. वि. वि., दरभंगा

तइयो ने छोडू धरमक बानि। अर्थात् धर्मानुपालन में यदि हानि भी हो तो धर्म मार्ग को न छोड़ें।

मिथिला का लोकधर्म मूलतः ब्रह्म केन्द्रित है। लोकब्रह्म अर्थात् सर्वजातीय एवं गांवों के संरक्षक देवता तथा 2. मातृब्रह्म अर्थात् देव माता एवं बुढ़िया माई। लोक ब्रह्म (बरहम बाबा) अश्वारोही रूप में औश्र मातृब्रह्म पिण्ड रूप में पूजित हैं। पिण्ड ब्रह्माण्ड का प्रतीक है। यह इसका प्राचीनतम रूप है। लोकविश्वास के अनुसार मिथिला के समस्त लाकेदेवी-देवता इसी ब्रह्मपिण्ड से हुआ है। मातृब्रह्म का पूजन वस्तुतः आर्येतर संस्कृति की देन है। लेकिन अश्वारोही ब्रह्म की परिकल्पना परवर्ती परिकल्पना है यद्यपि उससे सैंधव अश्व का स्मरण हो आता है। संभवतः अश्वारोही ब्रह्म वैदिक ब्रह्म का लोकरूप है।

कथैया (मोतीपुर, मुजफ्फरपुर) का विशाल ब्रह्मस्थान मिथिला वैशाली के समस्त ब्रह्मों का संसद है, जहाँ मिथिला में अकाल मृत ब्राह्मण ब्रह्मा (बरहम) के रूप में पूजते हैं। प्रत्येक ब्रह्म का अपना नाम और अपनी कथा लोकप्रचलित हैं। कुछ लोकदवताओं का अपना मंत्रिमंण्डल 'चौदह देवान' के रूप में पिण्ड-पूजित है, जिसमें अपदेवी-देवता दोनो परिगणित हैं (चौदह देवान, प्रो. मौन, मैथिली अकादमी पत्रिका, पटना, सित. अक्तू 1982 ई.)।

मिथिला की लोकसंस्कृति का कलात्मक प्रतिफल इनकी लोकमूर्तियों, लोकचित्रों, पूजापात्रों, गीत-गाथाओं, नाचगानों आदि में द्रष्टव्य है। लोककलाओं से मण्डित गहबरों का लोकसांगीतिक परिवेश लोकानुरंजन भंगिमाओं से अनुगूंजित रहता है। चंदोवा से आच्छादित वेदी पर पिण्ड अथवा मूर्ति रूप (निर्गुण एवं सगुण) में पूजित बरहम (बरहम, प्रो. मौन, रंगायन, उदयपुर, राजस्थान, जून 1983 ई.) सलहेस (राजा सलहेस : साहित्य और संस्कृति, सं. डा. मौन, मुजफ्फरपुर, 2002 ई.), धनपाल (देहाय राजा धनपाल-मौन, धर्मयुग, बम्बई, 20 मई 1966) मधुकर बाबा (हमारे लोकदेवी-देवता मुजफ्फरपुर, 1999 ई.) मनसा-विषहरि (मिथिला की नाग संस्कृति डा. मौन, मड़ई, विलासपुर, छतिसगढ़ 2005 ई.), कोशी कमला (नदी देवी- प्रो. मौन, सोनामहि, पटना) आदि की लोक विन्यस्त मूर्तियाँ, पान-प्रसाद, झांप एवं वंदनवार आदि में लोक की सौन्दर्य चेतना और लोक आस्था का अभिज्ञान होता है। मिथिला का प्रत्येक संस्कार और धार्मिक कृत्य कलामंडित होता है।

ब्रह्म की लोकमूर्ति मध्यकालीन सामंती वेश-भूषा में बनती है। सिरपर पगड़ी अथवा मुरेठा, राबदार मुखाकृति, फूलदार सेरवानी (चपकन), कमर में धोती अथवा चूड़ी दार पाजामा, पैर में पनही (चमरौंधा जूते) एवं हाथ में चाबुक। ब्रह्म को मनौती के रूप में अश्वारोही ब्रह्म अथवा घोड़ा की लोकमूर्तियाँ गहबरों में चढ़ायी जाती है। वज्जिकांचलमें नाथपंथी योगी बाबा को गेरूआ रंग में रंग घोड़े चढ़ाये जाते है। इसी प्रकार पौष पूर्णिमा को कोशी एवं अगहन पूर्णिमा को कमला की लोकमूर्तियों का पूजन कोशी जनपद में लोक प्रचलित है। इसी क्रम में गजारोही धनपाल और इन्द्र तथा बाघ पर सवार मधुकर बाबा और रहसू भगत की लोकमूर्तियों का पूजन लोकपरम्परित है।

लोकधर्म के अंतर्गत सूर्य (रविषष्ठी) और चन्द्रमा (भाद्र शुक्ल चतुर्थी) का लोकपूजन, ब्रतानुष्ठान, कोहबर और अरिपनों में सूर्य-चन्द्र का अंकन कल्याण प्रद माना जाता है। कमला, कोशी, जीबछ और गंगा को नदी देवी एवं वरगद, पीपल नीम आदि देववृक्ष के रूप में लोकपूर्णता हैं। मिथिला में वृक्षापूजन की परम्परा (डा. मौन, भोपाल, म. प्रदेश, फरवरी 2002 ई.)।

मिथिला के लोकजीवन के उत्कर्ष प्रदान करने के लिए अनेकानेक व्रत एवं पर्व-त्योहारों का विधान विहित है, जो जनपदीय जीवन को एक आचार संहिता के रूप में मर्यादित करता है। मधुश्रावणी, वटसावित्री, अक्षयनवमी, नागपंचमी, रवि षष्ठी, जितिया, भ्रातृद्वितीया, आदि (हमारे सांस्कृतिक पर्व-त्यौहार- डॉ. माहेश्वरी सिंह महेश, पटना, 1982 ई.) की संरक्षिका स्त्रियां ही है।

संकटापन्न की स्थिति में लोग देवी-देवताओं के शरणागत होते हैं। सेवक, भगत, ओझा-गुणी, धामी-धमिआइन आदि के माध्यम से दैवीकृपा लोक को प्राप्त होती है। इन देवी-देवताओं को मधुर-मिष्ठान, छागर-पाठी, गांजा-भांग, दारू, मिट्टी के हाथी-घोड़े, बाघ, खराऊँ लाठी, सतंजा, विष्टी आदि अर्पित किये जाते हैं। भक्तिपरक गीतों में इनका दैवीस्वरूप,

चमत्कार एवं पूजा-प्रक्रिया में लौकिक आचार और नाचगान में लोकानुरंजन के भाव प्रभुख होते है।

लोकसाहित्य

लोक के द्वारा एवं लोक के लिए निसृत तथा लोक को अभिव्यंजित करता लोकसाहित्य श्रुति और स्मृति परम्परा से संरक्षित होता है (मैथिली लोकसाहित्य का अध्यपन, पटना, 1985 ई.)। आदिम प्रवृति और परम्परा धारित, अभिजात्य संस्कार से भिन्न जनपदीय भाषा में मुखरित मैथिली लोकसाहित्य मानवीय उद्‌गार की मौखिक अभिव्यक्ति है। डॉ. रामदेव झा ने लोकजीवन में प्रचलित परम्परा-प्रवाह में निर्मित श्रुति साहित्य को लोकसाहित्य कहा है जबकि सत्यव्रत सिंहा (भोजपुरी लोकगाथा, इलाहाबाद, 1957 ई.) इसे लोकानुरंजनी साहित्य कहते हैं। विगत दशकों में लोकसाहित्य के अध्ययन अनुशीलन की प्रवृति ने जोर पकड़ ली है क्योंकि यह विश्वविद्यालय का मूलाधार है। डॉ. जयकांत मिश्र (इन्ट्रोडक्शन टू टी फोक लिटरेचर ऑफ मिथिला, इलाहाबाद, 1950 ई.) डॉ. तेज नारयण लाल (मैथिली लोकगीतों का अध्ययन, आगरा 1962 ई.), डॉ. ताराकांत मिश्र, डॉ. अणिमा सिंह, डॉ. प्रफुल्ल कुमार सिंह मौन (मैथिली लोकसाहित्यक भूमिका, 1976 ई.) डॉ. रामदेव झा आदि ने लोकसाहित्य को समग्र रूप से मूल्यांकन करने का प्रयास किया है। इसकी अध्ययन परम्परा का श्री गणेश जार्ज ग्रियर्सन (बिहार पीजेण्ट लाइफ, 1885 ई.) ने किया था।

मैथिली लोकसाहित्य का फलक व्यापक है-1. गेयात्मक लोकसाहित्य (गाथा गीत एवं लोकगीतों के प्रकार) 2. कथनात्मक लोकसाहित्य (लोककथा, लोकोक्ति, बुझौवल आदि) 3. लोकनाट्य साहित्य (लोकधर्मी नाट्य, गद्य-पद्य मिश्रित) 4. आनुष्ठानिक लोकसाहित्य (आचार, अभिचार विषयक लोकमंत्र आदि।)

मैथिली का गेयात्मक लोकसाहित्य अत्यंत समृद्ध है। यह लोकगीतों के अनंत आकाश और गाथागीतों के महासागर तक विस्तृत है। मैथिली लोकगीतों के अनेक संकलनों के अलावा विधागत संकलन भी प्रकाशित है- कोशी गीत (ब्रजेश्वर मल्लिक), थारू लोकगीत, मैथिली बालगीत (प्रो. मौन), संस्कारगीत 1. कामेश्वरी देवी 2. विभूति आनंद आदि। सृष्टि स्वयं रागात्मक है, उसी के अनुरूप सृष्टि के आदिम काव्य का सृजन भी रागात्मक परिवेश में हुआ है।

डॉ. तेजनाराण लाल, (मैथिली लोकगीतों का अध्ययन, 1962 ई.) डॉ. अंजना गांगुली (पूर्णिया अंचल के लोकगीतों का शास्त्रीय अध्ययन, 1991 ई.) डॉ. दमन कुमार झा (मैथिली बालसाहित्यक अध्ययन, 2002 ई.) डॉ. कविता कुमारी (मिथिला में परम्परित राग भासों का विश्लेषणात्मक अध्ययन) आदि मनीषियों ने मैथिली लोक गीतों को अपनी-अपनी भंगिमाओं से देखने का सत्प्रयास किया है। फिर भी अनेक संभावनाएँ शेष हैं और मैथिली लोकगीतों के सागर को आत्मसात करने के लिए अनेक राम इकबाल सिंह राकेश, अणिमा सिंह आदि की आवश्यकता बनी हुई है।

सीमांत क्षेत्र घटना बहुल गाथागीतों के लिए सर्वाधिक उर्वर माना जाता है। सलहेस, दीनाभद्री, लवहरि-कुशहरि, कारिख पंजियार, धनपाल-कथावस्तु मीरायण आदि की भूमि भारत-नेपाल का सीमांत क्षेत्र हैं, जिसकी कथावस्तु सीमांत के आर-पार घूमती रहती है- ''खने राजाजी जाय मोरंगराज, खने जाय मोगलान। मोरंग सीमांत के उत्तर में और मोगलान अर्थात् मुगलों का भारत सीमांत के दक्षिण। आर-पार करनेवाले है गाथानायक राजा धनपाल। सलहेस की जन्म और कर्मभूमि सिरहा एवं मोरंग (नेपाल) है जबकि कर्म भूमि का विस्तार मोकामा तक है, लव-कुश की जन्मभूमि बाल्मीकिनगर (नेपाल) में और पितृभूमि अयोध्या (भारत) में आदि। इस प्रकार मैथिली की गाथाएँ सीमांत के आर-पार को सूत्रबद्ध किये हुए है।

लोककला

लोककला मिथिला के सौन्दर्यबोधी लोकचिन्तन का प्रतिफलन है। जनपद के थान-गहबरों में संपूजित लोकदेवी-देवताओं की रंग-बिरंगी मृण्मूर्तियाँ हो, आनुष्ठानिक पूजापात्र हो, मांगलिक अल्पना अथवा कलात्मक भित्तिचित्र हो, काठ-बांस, मूंज, सिक्की एवं कोइढ़ला का कलात्मक सृजन हो अथवा लोकगीत-संगीत औन नृत्य-नाट्य से अनुरंजित प्रदर्शनकारी कलाएँ हो (मिथिला की प्रदर्शन कारी

कलाएँ, प्रो. मौन, रंगायन, उदयपुर, मार्च 1979 ई.) मिथिला की परम्परित लोककलाओं का संसार फैला हुआ है।

मिथिला की लोककलाओं में चित्रकला और मृण्मूर्तिकला सर्वप्राचीन है। कैमूर का गुहाचित्र (कैमूर- डॉ. प्रकाश चरण प्रसाद, कुमार आनंद, पटना, 2001 ई.) और चेचर (वैशाली), बलिराजगढ़ (मधुबनी), करियन (समस्तीपुर) आदि की मृण्मूर्तियाँ इस के प्राचीनतम साक्ष्य है (चेचर की प्राचीन मूर्तियाँ- प्रो. मौन, महनार, वैशाली, 1980 ई., करियन एक्सकेवेशन, पटना आदि) इनमें मातृदेवियों की मृण्मूर्तियाँ सर्वप्राचीन है।

वार्षिक लोकोत्सव के अवसर पर मिट्टी के बने ब्रह्म, सलहेस, धनपाल, मधुकर, योगी, कोशी-कमला, रहसूभगत आदि की लोकमूर्तियों में जनपदीय अवधारणा और सौन्दर्य दृष्टि का रूपांकन हुआ है। इसी अनुक्रम में विवाहमण्डप में स्थापित हस्तिकलश, दीपस्तंभ, धूपदानी, झिझियाक सहस्रछिद्रा घट, समा-चकेवा के पात्र, खिरादनी, आदि मिट्टी के कलात्मक प्रदर्श हैं। इनके सर्वेक्षण, छायांकन, संकलन एवं अध्ययन अन्वेषण से इस की गरिमा बढ़ेगी।

मिथिला की प्रदर्शनकारी लोककलाएँ

मिथिला की प्रदर्शनकारी लोककलाओं में परिगणित है- लोकनृत्य, लोकनाट्य और लोक संगीत। लोकनृत्य की आदिम उद्भावना गुहाचित्रों में उपलभ्य है। इसी अनुक्रम में भगता, नारदी, कमला, विदापत, रास, पमरिया, बक्खो, डम्फा, बँसुली, झिझिया, झूमर, झमटा, झरनी, आदि लोकनृत्यों के परम्परावशेष उपलब्ध है। देवी-देवताओं को रिझाने के भगता नृत्य विदापत, कीर्तनियाँ, रास और नारदी वैष्णवधर्मी नृत्य, झूमर, झमटा, फाग, चांचर आदि ऋतु नृत्य, पमरिया और बक्खा का बधैयानृत्य तांत्रिक नृत्य झिझिया, डम्फाबसुली, चमर नटुआ, धोबिनटुआ आदि जातीय नृत्य के अतिरिक्त मुसहरों के मृदंग और मलाहों के कमलानृत्य विशिष्ट है। प्रो. राधकृष्ण चौधरी मिथिला इन दी एज ऑफ विद्यापति, वाराणसी, 1976 ई.) ने मध्य कालीन परिवेश में बहुत सारे लोकनृत्यों का उल्लेख किया है।

मिथिला में एक तरफ वैष्णवधर्मी लोकनाट्यों की परम्परा है तो दूसरी और लोकधर्मी नाट्यों की। वैष्णव धर्मी लोकनाट्यों में विदापत (लोकधर्मी नाट्य परम्परा और विद्यापत, डॉ. मौन, परिषद् पत्रिका पटना, अक्टूबर 1984 ई.) कीर्तनियाँ नाटक (कीर्तनियाँनाटक : शिल्प और शैली, डॉ. मौन, रंग अभियान-8 वेगुसराय), नारदी, रस, कृष्णखेला आदि तथा लोकधर्मी नाट्यों में जट-जटिन, सामा-चकेवा (श्री अनिल पतंग, बेगुसराय 2001 ई.) डोमकछ डॉ. उषा वर्मा, (वेगुसराय, 2001 ई.), सलहेस, लोरिक, बसावन, नटुआदयाल, गोपीचन, कतका कुमर, हरिलता, सती बिहुला आदि परिगणित है। इनमें जटजटिन सर्वाधिक चर्चित महिलाओं का लोक नाट्य है। इसमें दाम्तत्य जीवन की अनेक जटिलताओं की मार्मिक प्रस्तुति हुई है। सामाचकेवा में भाई-बहन का निश्छलप्रेम, डोमकछ में विवाह का सामाजिक संदर्भ, सलहेस लोरिक और वसावन में शौर्य-पराक्रम, श्रृंगार की अन्तर्धारा, नटुआदयाल में व्यापारिक अभियान, गोपीचन में वैराग्य, और सती बिहुला में पति की जीवन रक्षा की गाथा अभिनीत हुई है। इस प्रकार इन लोकप्रिय चरितों की गाथाओं की नाट्य रूपांतर से इनकी उपादेयता बढ़ गयी है। इनके अलावा डॉ. उपेन्द्र ठाकुर ने मनचुबही नाच, डॉ. ताराकांत मिश्र ने विरहानाच, डॉ. मौन ने रमखेलिया, हरिलता और श्री महेन्द्र मलंगिया ने जया विषहरि एवं मैना गोविनानाच का उल्लेख किया है। लोकजीवन और लाकानुरंजन के सम्बद्धता के कारण ये लोकनाट्य (नाच) परम्परित है।

मैथिली लोकनाट्यों का मूलाधार लोकसंगीत है। नृत्य और वाद्यसंगीत से संवादों की संचरण शक्ति बढ़ती है। लेकिन संगीत की प्रधानता के कारण इसका कथापक्ष गौण बन जाता है तथापि प्रेक्षकों का सम्मोहन नहीं टूटता। मिथिला लोकसंगीत (मिथिला लोकसंगीत डॉ. मौन, पूर्वोतर मैथिल, गोहारी, असम, अक्तू, दिस. 2003 ई.) में लोकजीवन की रागात्मक अभिव्यंजना हुई है। लोकगान वस्तुतः प्रकृतिगान है, जो लयतालयुक्त और (स्वयंवर) गौरी सम्मरि, रूक्मिनी सम्मरि आदि गान की परम्परा है। लोकदेवी-देवतओंकी आराधना के लिए सुमिरन और

भगैत आदि गायन की परम्परा है। मैथिली गाथाओं के लिए अलग-अलग वाद्य निर्धारित हैं। सलहेस और कारीख पंजियार के लिए ओरनी, गोपीचन के लिए सारंगी, घुघली, घटमा के लिए ढोलकी, बसावन-बख्तौर के लिए मृदंग आदि विहित वाद्य हैं।

मध्यकालीन मिथिला लोक संगीत के अंतः सूत्र 'वर्णरत्नाकर' (ज्योतिरीश्वर) और रागतरंगिनी (लोचन) आदि ग्रंथों में उपलब्ध है। तदनुसार कर्णाट मालव, मोरंगिया केदार, पहाड़ी गूजरी, मलार, चांचर, तिरहुत कर्णाटकालीन सांगीतिक विधा है।

लोकधर्मी नाट्य विदापत के रासनृत्य में वाद्यों के साथ लय ताल का संकेत प्राप्त होता है- ''तौला बाजे, सारंगी बाजे और बाजे मिरदंग। हरीके मुख मुरली बाजे राधा केलय संग।।'' (हमारे लोकधर्मीनाट्य, सं. अनिल पतंग, बेगुसराय, 2001 ई.) इसकी समानांतरता आभिजात्य परिवेश में विद्यापति के रासगीत में इन वाद्ययंत्रों का उल्लेख हुआ है- करताल, डफ, मादल, मजीरा, करधनी (कमरघंटी), वीणा, पखावज, मृदंग आदि जिनमें से अनेक लुप्तप्राप्य है। आज लोकपरम्परित ढोल-पिपही, सिंगा, नगाड़ा, खुरदक, चुटकल, ओरनी आदि विलुप्ति के कगार पर है, जिनके अभाव में मिथिला का संगीताकाश प्रायः शून्य होता जा रहा है।

नारियों के लौकिक श्रृंगार के 'सोलहश्रृंगार' और 'बत्तीस आभरण' की परिकल्पना की गयी है। सोलह संस्कार और षोड़शोचपार की तरह यह पूर्णता बोधक है। कोहबर में चित्रित नैनायोगिन तथा परम्परित लोकचित्रों में घघरी-केचुआ (घंघरी और कंचुकी), और पटम्बर का अंकर समान रूप से लोकप्रिय है। देव-पुरूषों के लिए धोती चूड़ी दार पाजामा, उत्तरीय और पृष्ठ वस्त्र राजकीय वस्त्रवरण का स्मरण दिलाता है जबकि जन सामान्य के लिए घुटने तक अधोवस्त्र, झुल्ल और तौनी (गमछा) का विधान परम्परित है। राजे-महाराजाओं की राजकीय पोशाक मध्यकालीन है।

श्रृंगारिक विन्यास में लोक प्रचलित कान में कुण्डल, कर्णफूल, नाक में बेसर नकबेसर) और नथ, गला में हैं कल और हँसुली, बाँहों में बाजूवंद, कलाइयों में कंगन, अंगुलियों में अंगुठी, कमर में करधनी और डरकस, पैरों में कस-छाड़ाऔर पैंजनी और पैरकी अंगुलियों में बिछिया, मांगमें मंगटीका और मुख में पान के विन्यास की अभिव्यंजना हुई है। लेकिन बदलते फैशन की हवा में अधिकांश लोकाभूषण विलुप्त हो चुके हैं, जो कभी सोलह-श्रृंगार के प्रतिमान बने थे।

सामन्यतः पुरूषों की पहचान ठेहुना धोती, मुठिया टीक। तखन जानब तिरहुतिया थिक।'' अर्थात् घुटने तक धाती, मुठ्ठी भर शिखा के अतिरिक्त आभिजात्य जनों में धोती मिरजई, चादर और पाग, मस्तक पर त्रिकुण्ड, पैरों में पनहीं (चमरौंधजूते), संगमें पनबट्टी, नोंसदानी और हाथ में छड़ी)

मिथिला के लोकजीवन में कालक्षेप एवं आत्मरंजन के लिए लोकक्रीड़ा का विधान है। इसमें खेलभावना, शारीरिक स्वास्थ्य, नेतृत्व की क्षमता का विकास एवं खेल-खेल में ज्ञानार्जन की अनौपचारिकता निहित है। घर आंगन हो या दरबाजे का प्रांगन, खेत-खलिहान हो या बाग-बगीचा, या नदी-पोखरे उनमें कन्याओं का सतधरवा, पचीसी, घोघो रानी, झिझिर कोना, करिया झूमर, गदगदरासी, झोमक्का आदि एवं युवाओं के लिए चिक्का, गीध-गुड़कान, गुल्लीडंडा, हरदी, डोलि-पत्ता, कबड्डी, हुड़ियाही, धूरखेल, सोनाडुब्बी, झिलहेर (नौकायन) आदि लोकक्रीड़ाओं में शारीरिक और मानसिक सक्रियता दिखती है। बच्चों के खेलगीत लय ताल पर संपादित होते हैं और खेल-खेल में व्यवहारिक ज्ञान की शिक्षा दी जाती है। इसका विशेष अध्ययन आवश्यक है।

शिक्षा के संवर्धन में संगीत की भूमिका

चन्द्रिका कुमारी

शिक्षा के स्तर में या संवर्धन में संगीत की अपूर्व भूमिका है। जन्म से लेकर मृत्यु तक यह संगीत हमारे साथ बना रहता है। जिस दिन बच्चा जन्म लेता है अर्थात इस धरती पर आता है तभी उसका परिचय संगीत से हो जाता है। ''संगीत हमारे जन-जीवन के उल्लास को प्रकट करने का तो यह प्रभावी साधन है ही, साथ ही यह उसको गतिमान बनाने का प्रबल अस्त्र भी है। संगीत उनको रचनात्मक कार्यों में अग्रसर होने की सामूहिक स्फूर्ति और प्रेरणा प्रदान करता है और उनको वह सामूहिक शक्ति देता है जो उन्हें उन कामों के करने योग्य बनाती है।-1

अन्य विषयों की भाँति संगीत को भी शिक्षा में शामिल करना होगा तभी तो हम इसकी भूमिका को परख सकते हैं। संगीत का हमारे शिक्षा व्यवस्था से घनिष्ट संबंध कायम होना चाहिए। संगीत की शिक्षा से बच्चों में अंतर्मुखी विकास एवं बाह्यमुखी विकास दोनों ही अच्छे ढ़ंग से होता है। यूँ कहें कि बच्चे का आध्यात्मिक विकास भी पूर्ण रूप से होता है जिससे बच्चे का ध्यान इधर-उधर न भटककर एक सार्थक लक्ष्य की ओर अग्रसर होता है, क्योंकि जिसको ईश्वर की शक्ति मिल जाती है उसे इधर-उधर की शक्ति से क्या काम? बच्चों के विकास में अनेक तत्त्वों की आवश्यकता होती है। धार्मिक, सत्य की खोज, परोपकार की भावना आदि। ये सब बच्चों में तब आता है जब उसे नैतिक शिक्षा दी जाए। नैतिक शिक्षा उसे तब मिलेगा जब हम संगीत को शिक्षा में बराबर का हिस्सेदार बनाएँगे। संगीत हमारे बुझे हुए मन में एक दीपक की लौ की तरह काम करेंगे। जिस प्रकार एक दीपक जलने से प्रकाश उत्पन्न हो जाता है उसी प्रकार संगीत को अपनाने से मन का अंधकार स्वतः दूर हो जाता है।

संगीत की भूमिका तो हर क्षेत्र में दृष्टिगोचर होती हैं। संगीत तो कल्याण साधना का एक मार्ग है। उसमें भी भारतीय संगीत की तो एक अलग ही विशेषता है। आज के भारतीय संगीत में कुछ-कुछ दोष नजर आने लगे हैं। लोग संगीत को गलत तरीके से प्रयोग में ला रहे हैं। पहले एक फिल्मी गाना भी कुछ-न-कुछ सीख देता है, लेकिन आजकल का गाना तो हर साल नया बनता है और थोड़े ही दिनों में उखड़ जाता है अर्थात् कोई रस नहीं रहता है। पुराने गीत अब भी नये लगते हैं कितना भी सुनें पर हम बोर नहीं होते हैं। आजकल का संगीत मनोरंजन नहीं करता है बल्कि गलत संदेश देता है और हमारे मन मस्तिष्क को प्रदूषित करता है। आजकल का संगीत आज बनता है कल पुराना हो जाता है। आजकल संगीत का विकास कम होता है और ह्रास अधिक। इसलिए आज फिर से प्राचीन संगीत को जगाने का समय आया है और भी प्राचीन संगीत, पुराने संगीतज्ञ, पुराने कवि यथा मीरा, तुलसी, कबीर, नानक, रैदास आदि के पदों के लिए जनता के हृदय में आदर है।

हम अगर चाहें तो इस पीढ़ी में भी संगीत की शिक्षा को आगे बढ़ा सकते हैं। उसके गुण को परख सकते हैं। संगीत की शिक्षा यदि गहराई से विचार किया जाय और संगीत को देश और जाति के लिए मानसिक और चारित्रिक उन्नति का साधन बनाया

शोध छात्र, वि. वि. संगीत एवं नाट्य विभाग, ल. ना. मि. वि. वि., दरभंगा

जाय तो समाज के उन्नयन के लिए संगीत सबसे कारगर औषधि होगी।1

भारतीय संगीत के परिवेश में आज की स्थिति इतनी चिंताजनक है कि संगीत का तकनीकि और संस्कार गत परिमार्जन तो दूर, इसके वर्तमान रूप को ही बचाते हुए, इसे अगली पीढ़ियों तक प्रेषित करना संभव होता नहीं दिखता। संगीत के अध्यापन के क्षेत्र में फिलहाल दो पद्धतियाँ प्रचार में हैं ''घरानेदार शिक्षा पद्धति काफी प्राचीन काल से संगीत अध्ययन-अध्यापन का कार्य कर रही है। इस पद्धति का प्रचार आज भी है लेकिन इस पद्धति से पर्याप्त प्रमाण में संगीत की शिक्षा का कार्य नहीं किया जा सकता था। इस कारण लगभग 150 वर्ष पूर्व से विद्यालयीन स्तर पर संगीत का शिक्षण आरंभ हुआ और संगीत की संस्थागत शिक्षा-पद्धति प्रचार संगीतज्ञों के निर्माण में उस स्तर को नहीं छू पा रही है जहाँ वे आज से काफी समय पूर्व पहुँच चुकी थी।

भारत में वैदिक काल में गुरूकुल शिक्षा पद्धति के प्रचार में होने के प्रमाण मिलते हैं। इस पद्धति में विद्यार्थी गुरूकुल में रहते हुए विद्या ग्रहण करते थे। वे पूर्णतः गुरू के अधीनस्थ रहते थे और उनके अध्ययन काल में गुरू ही उनके अभिभावक हुआ करते थे ''घरानेदार-शिक्षा-पद्धति'' से पूर्णतः प्रभावित संगीत शिक्षा पद्धति थी। इस पद्धति में शिष्य अपने गुरू के यहाँ रहते हुए पूर्ण समर्पण भाव से संगीत साधना करते थे। गुरू अपने शिष्यों को संगीत के तकनीकि पक्ष के साथ ही साथ संगीत की साधना के संस्कारों से भी संस्कारित करते थे। गुरू अपने शिष्य के खान-पान, रहन सहन, आचार-विचार, एवं जीवन-दर्शन जैसे सारे पक्षों को प्रभावित करते हुए उसे संगीत की श्रेष्ठतम अभिव्यक्ति के लायक बनाते थे। इस कार्य में गुरू को काफी सावधानियां बरतनी पड़ती थीं। इसी कारण गुरू बहुत ही कम गिने चुने से प्रतिभावान विद्यार्थियों को शिष्यत्व प्रदान करते थे। गुरू को ऐसा अपनी रहने, खाने-पीने व अर्थोपार्जन की सीमाओं के अनुसार भी करना पड़ता था। इस प्रकार एक गुरू अपने जीवन काल में कुल 2, 4 या 5 तक ही शिष्य स्वीकारता था और उन्हें संगीत के श्रेष्ठ कलाकार के रूप में समाज स्थापित करता था।

''घरानेदार शिक्षा पद्धति'' काफी समय तक निर्विकार रूप से अपना कार्य करती रही, लेकिन अंग्रेजी शासन की आखिरी शताब्दी में इसमें क्रमिक रूप से विकार आने लगे। संगीतज्ञों को राजाश्रय की सुविधा से वंचित कर दिया गया था। संगीत गुरूओं की आर्थिक सीमाएं संकुचित हो गई। गुरू अर्थोपार्जन को ध्यान में रखकर शिष्यों को चुनने लगे, वे शिष्य की प्रतिभा को शिष्य चयन के समय दोयम स्थान पर रखने लगे। भावी पीढ़ी के सुनिश्चित आर्थिक भविष्य की दृष्टि से गुरू, पुत्र व शिष्य में पक्षपात करने लगे। कई घरानों के गुरू शिष्यों का आर्थिक, मानसिक और यहां तक कि शरीरिक शोषण भी करने लगे। धीरे-धीरे संगीत में व्यावसायीकरण की भावना कुछ घरानों में बलवती होने लगी और धीरे-धीरे लोगों का विश्वास इस पद्धति पर से उठने लगा।

इस प्रकार बदली राजनैतिक व आर्थिक स्थिति में अंग्रेजी स्कूली शिक्षा से प्रभावित होकर, संगीत को भी विद्यालयीन स्तर पर अध्यापित करने की शुरूआत हुई और सन् 1871 में ''संगीत विद्यालय कलकत्ता'' की स्थापना हुई और इनका काफी प्रचार-प्रसार हुआ विद्यालयीन-संगीत-शिक्षा के प्रारंभिक काल में संगीत के महान एवं स्थापित कलाकारों ने विद्यालयों द्वारा संगीत शिक्षा के संचालन पर अपना व्यक्तिगत हस्तक्षेप रखते हुए संगीत साधना हेतु समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति की। इस प्रकार विद्यालयों द्वारा उच्च स्तर के संगीतज्ञ एवं संगीत कलाकार निष्पादित हुए। और इस प्रकार संगीत की विद्यालयीन शिक्षा पद्धति धीमे-धीमे समाज में स्थापित हो गई।

समय के साथ-साथ समाज में भी परिवर्तन हुए और इस परिवर्तन के परिणाम, संगीत पर भी दिखाई दिए, भारत में स्वाधीनता के बाद संगीत के विद्यालयों की संख्या खूब बढ़ी। अनेक महाविद्यालय एवं विश्वविद्यालयों ने संगीत को अपने अध्यापन की विषयवस्तु बनाया। इस प्रकार संगीत की शिक्षा अपेक्षाकृत सुगमता से उपलब्ध होने लगी। लेकिन विद्यालयों में इस प्रकार हुई संख्यात्मक वृद्धि के कारण उनके संचालन में महान संगीतज्ञों का व्यक्तिगत हस्तक्षेप कम होने लगा। और संगीत विद्यालयों में संगीत का स्तर गिरने लगा।

संगीत विद्यालयों का संचालन जब स्थापित संगीतज्ञों के स्थान पर उन लोगों के हाथ में पहुँच गया जो संगीत की संस्कृति से परिचित नहीं थे, तब तो संगीत के पतन का युग ही आरंभ हो गया, इन विद्यालयों में संगीत के साधना पक्ष को पर्याप्त महत्त्व न देते हुए उसके तकनीकि पक्ष के अध्यापन को ही पर्याप्त माना जाने लगा और संगीत का कालखंड भी अन्य विषयों के अनुरूप 30 मिनट या 45 मिनट का होने लगा। इस प्रकार विद्यालयों में साधना करना संभव नहीं रह गया। पाठ्यक्रम बनाते समय भी संगीत साधना की गंभीरता नकारते हुए पर्याप्त से अधिक प्रमाण में विषय वस्तु समाहित कर पाठ्यक्रम को अव्यावहारिक बना दिया गया। विद्यार्थियों के चयन में भी उनकी रूचि, प्रतिभा एवं क्षमता की ओर ध्यान दिये बिना, प्रतिभाहीन विद्यार्थियों को संगीत विषय में प्रवेश देने की प्रथा आरंभ हुई। परिणामतः संगीत विषय के विद्यार्थियों का स्तर गिरने लगा। विद्यार्थियों को प्रवेश देने के पूर्व उन्हें संगीत विषय की उपशाखाओं से (सितार, वायलिन, गायन, नृत्य आदि) परिचित कराने की व्यवस्था न होने के कारण विद्यार्थी भ्रमित रहते हैं और उन्हें अपने उद्देश्य एवं उपविषय के तालमेल बिठाने में कठिनाई होती है। इस प्रकार विद्यालयीन संगीत शिक्षा में लगातार आ रही विकृतियों के कारण संगीत की गौरवमयी विरासत को बचाना एक चिन्तनीय विषय बन गया है।

भारत में संगीत के अध्यापन का कार्य मुख्य रूप से दो पद्धतियाँ कर रही हैं घराने दार शिक्षा पद्धति और संस्थागत शिक्षा पद्धति, दोनों ही पद्धतियों की अपनी उपलब्धियाँ भी हैं। भारतीय संगीत में तकनीकि दृष्टि से एवं संस्कार गत जो भी श्रेष्ठतम है, उसे बचाने और इस स्तर तक लाने का श्रेय घरानेदार शिक्षा को जाता है। घरानेदार गुरूओं में कथित रूप से आए दोर्षों के बाद भी संगीत साधना के संस्कार तो निश्चित रूप से होते हैं जो कलाकार निर्माण में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। इसी विशेष गुण के कारण यह कथन एक सत्य है कि ''आजतक जो भी उच्च स्तरीय संगीतज्ञ हुआ है वह प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से घरानेदार शिक्षा पद्धति से ही संस्कारित हुआ है दूसरी ओर घरानेदार पद्धति में आई विकृतियों के बाद प्रचार में आई संस्थागत शिक्षा पद्धति में संगीतज्ञों के निर्माण में भले ही सफलता प्राप्त न की हो, लेकिन जन सामान्य में संगीत शास्त्र को प्रचारित करके एक सशक्त श्रोता वर्ग निश्चित रूप से निर्मित किया है। यह श्रोता वर्ग संगीत में शास्त्रीय दृष्टि से काफी निपुण होता है।

संगीत में बेहतर शिक्षा पद्धति का निर्धारण करने के लिये जहां प्रचलित शिक्षा पद्धतियों के गुण दोषों का सूक्ष्म दृष्टि से निरीक्षण आवश्यक है वहीं साथ में उस संपूर्ण विषय वस्तु का निर्धारण करना भी आवश्यक है जिससे प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से विद्यार्थी को प्रभावित किया जाता है। संगीत के उच्चस्तरीय विद्यार्थी के निर्माण में घरानेदार शिक्षा पद्धति की उपलब्धियां स्पष्ट हैं। इस उद्देश्य हेतु घरानेदार पद्धति के शताब्दियों के अनुभव हैं। यदि विद्यालयीन स्तर पर भी अच्छे संगीतज्ञ बनाने का उद्देश्य प्राप्त करना है तो विद्यालयों को घरानेदारी से संगीत साधना के संस्कारों को सीधे ही आत्मसात करना होगा। संगीत के अध्यापन में प्रमाण के स्तर पर महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हुए, जनसामान्य को भी संगीत की शिक्षा उपलब्ध कराते हुए संगीत का काफी प्रचार प्रसार किया है।

विद्यालयीन संगीत की शिक्षा दो स्तरों पर संचालित करनी होगी। प्राथमिक स्तर कक्षा 6वीं से 12वीं तक संगीत अध्यापन का कार्य करे और उच्च स्तरीय कक्षाएं बी. ए. एवं एम. ए. स्तर पर अध्यापन कार्य करें। प्राथमिक स्तर पर विद्यार्थियों को चुनने के लिये विद्यालय के 5वीं उत्तीर्ण समस्त छात्रों को एक माह के (लगभग) समय में संगीत की गंभीरता उसकी उपशाखाओं का परिचय एवं उद्देश्य निर्धारण के लिये शिक्षित किया जाना चाहिये, इस अवधि में जहाँ विद्यार्थी संगीत विषय से परिचित होंगे वहीं संगीत शिक्षक भी विद्यार्थियों में लगन और प्रतिभा के स्तर को समझकर, संगीत अध्ययन हेतु उचित शिष्यों का चुनाव कर सकेंगे। प्राथमिक स्तर पर पूर्वार्द्ध के पाठ्यक्रम में संगीत के उप विषयों के

अनुरूप आधारभूत अभ्यास क्रम को एवं उसकी साधना के संस्कारों को शामिल किया जाना चाहिए। जबकि उत्तरार्द्ध के पाठ्यक्रम में साधनागत संस्कार से तालमेल स्थापित कर अपने उद्देश्य निर्धारण में एक स्थिर मत बना चुकेंगे।

संगीत की उच्च स्तरीय संस्थाओं को दो भागों में विभाजित करना होगा। संगीत के शास्त्र पक्ष को अपना मुख्य उद्देश्य बनाने वाले विद्यालय और दूसरे संगीत के क्रियात्मक पक्ष के अध्ययन को अपना मुख्य उद्देश्य बनाने वाले विद्यालय। उच्चस्तरीय शिक्षा के उद्देश्य में सफलता के लिये भी अच्छे विद्यार्थियों का चयन आवश्यक है इसके लिये प्रत्येक विश्वविद्यालय में एक सर्वमान्य एवं विषय विद् समिति गठित करनी होगी जो प्रवेश पूर्व विद्यार्थियों की प्रतिभा, कर्मठता एवं लगनशीलता के आधार पर प्रवेश की अनुमति दिया करेगी। इन महाविद्यालयों या विश्वविद्यालयों के अध्यापकों की नियुक्तियों के मापदण्ड संगीत में स्तरीय ज्ञान के अलावा संगीत के अध्यापन में रूचि एवं संगीत के प्रति समर्पण-भाव को बनाना होगा।

इन महाविद्यालयों में विद्यार्थियों एवं गुरूजनों के निवास की सुविधा होनी चाहिए। यह देखा गया है कि विद्यालयों में विद्यार्थियों के रहने की सुविधा होने की स्थिति में बेहतर परिणाम मिलते हैं। उदाहरणार्थ खैरागढ़ विश्वविद्यालय को ही लें। विश्वविद्यालयों में विद्यार्थियों को होस्टल की सुविधा होने के कारण वहाँ का स्तर खैरागढ़ के ही संबद्धता प्राप्त महाविद्यालयों से काफी बेहतर होता है। गुरू और शिष्यों को साधना करने में काफी सुविधा होगी। इन सब के बाद भी परीक्षा प्रणाली में तटस्थ नीति अपनाने से भी संगीत का स्तर अच्छा बनाया जा सकता है। विश्वविद्यालयों को चाहिए कि वे अपने से संबंद्ध महाविद्यालयों की परीक्षाओं के समय अपने पर्यवेक्षक वहां अवश्य ही पहुचाएं अन्यथा मानमाने ढ़ंग से संचालित परीक्षा में स्तर की अपेक्षा करना संभव नहीं।

संगीत एक ऐसा विषय है इसके अध्यापन की अपनी तकनीक होती है। विद्यालयों को संगीत के अध्यापन हेतु योग्य बनाने के लिये उनमें काफी परिवर्तनों की आवश्यकता होगी जिसके लिये शासन की सहायता आवश्यक है। राष्ट्रीय स्तर पर संगीत विषय हेतु विद्यालयों में आवश्यक परिवर्तनों के बारे में विचार विमर्श करने के लिये एवं शासन तक इस विषय में अपनी मांगे भेजने के लिए एक उच्चस्तरीय समिति गठित होनी चाहिये जिसे उच्च-शिक्षा अनुदान आयोग एवं शासन दोनों ही से मान्यता मिली होनी चाहिये।

संदर्भ ग्रन्थ :-

1. नारायण डॉ. पुष्पम, संपादक, भैरवी (संपादक की कलम से)
2. नारायण पुष्पम, संपादक, भैरवी (संगीतशोध पत्रिका) संपादक की कलम से

मिथिला के संस्कार गीत

डॉ. लालति कुमारी

मिथिला में जितने भी प्रकार के लोकगीत प्रचलित है उसमें सबसे ज्यादा समृद्ध हैं संस्कार गीत। यहाँ षोडष संस्कार विधान है। गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तान्नयन, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण अन्नप्रासन, चूड़ाकरण, कर्णवेध, उपनयन, वेदारम्भ, समावर्तन, विवाह, बानप्रस्थ, सन्यास तथा अन्त्येष्टि परन्तु आज के मिथिला में जन्म, मुण्डन, उपनयन, विवाह तथा मृत्यु यही पाँच संस्कार प्रचलित है।

उपर्युक्त सभी संस्कार मानव के विश्वास एवं परंपरा से प्रचलित है। इसमें समाज की धार्मिक भावना निहित रहती है। इसलिए संस्कार का अर्थ होता है कुछ कृत्य अथवा अनुष्ठान को सम्पन्न करना। इसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

संस्कार गीत का सम्बन्ध संस्कृति और साहित्य से तो हैं ही खासकर समाज से भी कम नहीं है इसलिए संस्कृत, साहित्य और सामाजिक अन्तरालम्बन को जितने अच्छे ढंग से संस्कार गीत स्पष्ट करते हैं उतना और कोई नहीं

मैथिली संस्कार गीत की अपनी कुछ विशेषताएँ हैं, वह है इसके भाषा की सरलता, सुगम्यता इसकी दूसरी विशेषता है। तीसरा है लोक मंगल कामना अर्थात् व्यक्तिगत पारिवारिक और सामाजिक जीवन में सुख-शान्ति के लिए देवी देवता से कामना की जाती है। मनुष्य का मन अधर्म से हँटकर धर्म की ओर प्रवृत्त हो इस गीत के माध्यम से अपने इष्ट देवी-देवता से प्रार्थना की जाती है। कहने का तात्पर्य है कि मिथिला के संस्कार गीत धार्मिक भावनाओं से ओत-प्रोत है। इस गीत के माध्यम से यहाँ के लोगों में धर्म के प्रति आस्था स्वाभाविक रूप से देखी जाती है।

वास्तव में संस्कार गीतों के कारण ही आज बहुत सारे संस्कार जीवित हैं- ऐसा लगता है कि जबतक ये संस्कार गीत जीबित रहेंगे तबतक ये संस्कार भी। भले ही सामाजिक व्यवहार में इन संस्कारों का प्रचलन समाप्त हो जाए परन्तु इन गीतों के कारण समाज के सामने कुछ ना कुछ संस्कारों की रूपरेखा तो रहेगी ही। संस्कार गीत भूले भटके मनुष्यों को यह बताते रहेंगे की हम पूर्व में क्या थे और क्या हो गए।

विभिन्न संस्कार गीतों के महत्त्व को दर्शाते हुए यह कहा गया है कि ये गीत विभिन्न अवसरों पर समवेत रूप में गाए जाते हैं। इनके कारण उन संस्कारों की पवित्रता और महत्ता को चार चाँद लग जाते हैं- इसलिए क्योंकि इसमें रस है, भाव प्रणवता है, विचारो तेजकता है, आहलादित एवं विभोर कर देने की क्षमता है। सभी गीत एक अजीव प्रकार की रसमयता से ओत प्रोत है। संस्कार से ही संस्कृति बनती है और इन संस्कार गीतों को सुनकर किसी भी संस्कृति को जाना जा सकता है। आज भी सामान्य जीवन में संस्कारों का महत्त्व है। इन संस्कारों को जीवन प्रदान करनेवाला और उन्हे सरल बनाने वाले संस्कार गीतों को हम कैसे भुला सकते हैं।

इन संस्कार गीतों में लोकगीतों की आत्मा बसती है। लोकगीतों के मनोहर फुलवारी से यदि संस्कार गीत को निकाल दिया जाए तो संभवतः लोकगीत नीरस नजर आएगा। इसी कारण संस्कार गीत को लोकगीत का महत्त्वपूर्ण अंग माना जाता है। वे सारी विशेषताएँ संस्कार गीत में विद्यमान है जो लोकगीत का है। संस्कार गीत को मांगलिक गीत भी कहा जाता है। मृत्यु संस्कार को छोड़कर

सहायक प्राध्यापक, संगीत, बी. एम. ए. कॉलेज, बहेड़ी

अन्य सभी संस्कार आनन्दोत्सव के रूप में मनाए जाते हैं। मिथिला में मृत्युगीत नहीं गाए जाते हैं। मृत्यु के अवसाद को मूक और करूण भाव से ही सहे जाते है।[1]

हालाँकि मृत्यु के उपरांत कालांतर में शोक गीत गाए जाते हैं लेकिन उसे संस्कार गीत नहीं कहा जाता। संस्कार गीत आनन्द की सहज अभिव्यक्ति और स्वाभाविक रसोन्माद है। मिथिला में उमंगमय वातावरण की स्थिति में नारीकंठ से निकली स्वर लहरी शरीर में थिरकन, हृदय में झंकार एवं मस्तिष्क में चुलबुली उत्पन्न कर देता है।[2]

आधुनिक मैथिल समाज में प्रचलित संस्कारों के आधार पर संस्कार गीतों को मुख्य चार भागों में विभक्त किया गया है- (1) पुत्र जन्म के अवसर पर (2) मुण्डन के अवसर पर (3) यज्ञोपवीत के अवसर पर (4)विवाह के अवसर पर

पुत्र जन्म के अवसर पर गीत गाने की परंपरा अत्यन्त प्राचीन है। कतिपय प्राचीन ग्रंथों में इनका उल्लेख है। आदि कवि वाल्मीकि ने रामजन्म के समय गन्धर्वों द्वारा गाने का वर्णन किया है।

जुग कलच गन्धर्वा ननृतस्चाप्स रोगनाः
देवदुन्दुमयो मेदुः पुष्पवृष्टिश्च श्वात्पततः।[3]

इसी प्रकार कालीदास ने अज के शुभ जन्म अवसर पर राजा दिलीप के महल में वेश्याओं द्वारा नृत्य करने एवं मंगल वाद्य बजाने का उल्लेख किया है-

सुखश्रवां मंगलतर्यनिस्वनाः
प्रमोद नृत्यें सह वाष्योशिताम्
न केवल सद पनि मागधीपतेः
पंथि व्यजम्भन्त दिवोक सामपि।[4]

पुत्र जन्म के पश्चात् के सोहर में चारों तरफ प्रसन्नता का वातावरण, मंगलमय दान दक्षिण वधैया आदि का वर्णन रहता है। मिथिला में धार्मिक सोहर का प्रचलन प्रचुर मात्रा में हैं। यहाँ स्त्रियाँ राम एवं कृष्ण के जन्म से सम्बन्धित सोहर गाती हैं। इन सोहरों में देवी देवताओं का वर्णन रहता है।

जन्म लेल भगवान अवध भेल आनन्द रे
ललना रे चलल सकल सुर देव दरस परमानन्द रे
द्वार ठाढ़ चतुरानन वेद बखानथि रे
ललना रे सेस सहस्त्र मुख शारदा स्तुति गावथि रे
नारद वेनु बजाबथि बिनय कर रिझावथि रे
ललना रे शंकर ध्यान लगावथि सेहा डमरू बजाबथि रे।5

पुत्र जन्म के अतिरिक्त मुंडन और जनेऊ संस्कार के अवसर पर भी मिथिला में अनेक प्रकार के सोहर गाए जाते हैं जिनमें सास ननद के नोक-झोंक के बीच कभी-कभी प्रियतम का प्यार दुलार भी मिथिला के सोहर में सुनने को मिलता है-

बारह वरस जब बीतल तरेहम चढ़ल रे
सासु मोरादैड लहन ननद गरियावै-रे
गौतुनी हँसे बिकरार सबै धन बाँचत रे
अँगना बहारित तोहें सरखी कि तोहीं मोरा चेरिया रे
चेरिया गे आनि देहो आक धतूर पिसि खायब रे
पलंगा वैसल तोहे धनि तोहें ठकुरानी रे
धनि हे कौन बिरह केर बात धतुर पिसी खायब रे
बारह बरस जब बीतल तेरहम चढ़ल रे
पिया हे सासु मोरा दै उलहन ननदो गारियावै रे
गोतनी हँसे विकरार सबै धन बाँचत रे
पिया हे यएह विरह केर बात जहर पिसि खायव रे
चुप रहु धनि तोहें ठकुराइन
धनि हे गाम के पश्चिम पोखरि खुनायव चुन सँ चुनेरब रे
धनि हे करबै जे काशी विश्वनाथ सब धन लुय देव रे।6

मुण्डन उपनयन के अतिरिक्त विवाह संस्कार के अवसर पर गाए जाने वाले गीतों की संख्या भी अनगिनत है। गोसाउनि, ब्राह्मण, हनुमान के गीत से तो बेटा बेटी दोनों के विवाह संस्कार की शुरूआत होती है। इसके अतिरिक्त नैना योगिन, वेदी घुमाओन, समर, सिन्दूर दान, मौहक, चुमाओन, चतुर्थी, वटगमनी विवाह के प्रथम वर्ष में पूरे साल होने वाले विधि व्यवहार जैसे- वटसावित्री, मधुश्रावणी, कोजगरा और तथा अन्त में बेटी विदाई के अवसर पर समउाओन गीतों का गायन स्त्रीराग द्वारा की जाती है। सभी संस्कार गीतों के भिन्न भिन्न प्रकार हैं बेटा विवाह के अवसर पर कुमार बारात का गीत गाए जाते हैं जिसमें बेटी विवाह गीत से कुछ भिन्नता रहती है। विवाह संस्कार के विभिन्न गीतों का अलग-अलग

वर्णन करना तो विस्तृत काम है, यथासम्भव गीतों को देखा जा सकता है-

बेटी लग्न के गीत-
ऊँचहिं मरबा बन्हबै यौ बाबा
चारू दिश राखब दुआरि यौ
मर वाके काते-काते झिझरी लगायब
वैसता ननुआ जमाय यौ
सोना के मयूर बाबा काते काते नाचे
सखि सब मंगल गाय यौ
कन्या दान कय उठला बाबा
मोती जकाँ झहरनि नोर-यौ
गाय महिंस बेटी दान दक्षिणा
खोइछा भरि देलनि सोन यौ।7

कन्यादान के गीत-

गेरूअहि काँप दूबहि छतिया
हाथ काँपै तिलकुश हे
बेटी ले काँपय अपन बाबा
कोना बेटी करौं दान हे
जहिना आहो बाबा इनरा खुनाओल
तहिना करू धिया दान हे।8

सिंदुरदान के गीत-

स्वर्ण सिंदुर दुल्हा धीरे से लगाउ
हे दशरथ जी के बबुआ
धीरे-धीरे लली के लगाउ
हे दशरथ जी के बबुआ
लाज ने करू दुलहा, हृदय के सम्हरू
हे दशरथ जी के बबुआ
कँपैत कर करू स्थिर हे दशरथ जी के बबुआ
लली के हृदय लगाउ, हे दशरथजी के बबुआ।9
समदाओन (विदाई गीत)

जखन सुनयना डोली दिस ताकथि सीता भेली कनैत अधीर भरलो आँगन जतेक नर-नारी,ककरहु नहिं थीर

चहुँदिस रोवथि सखी हे सहेलिया,
आमा के झहरनि नयन मोती नीर
किए जे बेटी जानकी पोसल
उड़िभेली देश परार
भनहिं विद्यापति सुनु हे सुनयना,
इहो थिक नगर बेबहार[10]

इस गीत का गायन उस समय होता है, जब विवाह संस्कार के बाद लड़की पिता गृह यानी ससुराल को जाती है। इन गीतों का प्रसंग अत्यन्त कारूणिक होता है। अतः मिथिला में अनेक प्रकार के संस्कार गीत हैं ओर उनमें संगीत तत्व कूट-कूट कर भरा हुआ है।

संदर्भ ग्रन्थ :-

1. झा मोहनानन्द, मिथिला सांस्कृतिक परम्परा में लोकगीत, जानकी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ0 232
2. देवी कामेश्वरी, मिथिला संस्कार गीत- भूमिका
3. अर्थवेद, 1-11
4. सधुशंष, 3-19
5. सिं. डॉ. अणिमा, मैथिली लोकगीत
6. परंपरानुसार, लोककंठ से प्राप्त
7. देवी श्रीमती उर्मिला, आकाशवाणी के लोकगीत कलाकार से प्राप्त
8. सिंह डॉ. अणिमा, मैथिली लोकगीत पृ.- 201
9. लोकवाणी, जिला शिक्षा एवं प्रशिक्षण संस्थान पूसा, समस्तीपुर
10. बेनीपुरी संकलन, विद्यापति की पदावली

संगीत का वर्तमान संदर्भ और बाँसुरी

रोहन तारा

भारतीय वाद्य संगीत में बाँसुरी का अपना एक विशिष्ट स्थान है। संगीतज्ञों से लेकर छोटे बच्चे तक इस वाद्य से परिचित हैं। एक प्राचीनतम वाद्य होने के बावजूद यह मूलतः उसी रूप में आज भी विद्यमान है, जैसा कि सहस्रों वर्ष पूर्व था। लोक संगीत शास्त्रीय संगीत की जननी है और बाँसुरी का लोक संगीत में एक प्रमुख वाद्य के रूप में प्रयोग सदा से होता रहा है। वैदिककालीन संगीत में भी सामगान के मूल स्वर का संधान वंशी से ही किया जाता था।[1] भरत मुनि ने गांधर्व के तीन ही स्रोत उद्धृत किए हैं और वेणु उनमें से एक है।[2] यह वाद्य कितना प्राचीन है यह तो निश्चित तौर से नहीं कहा जा सकता किंतु इसकी उत्पत्ति को ले कर अनेक धारणाएँ हैं। हिंदू धर्म के अनुयायी श्री कृष्ण को बाँसुरी का प्रवर्त्तक मानते हैं। कुछ विद्वानों का कहना है कि आदिमानवों ने इसे सवर्प्रथम पशु-पक्षियों की अस्थियों से बनाया एवं कुछ का यह मत है कि कीटों द्वारा वंश दलों में किए गए छिद्रों में वायु के दबाव से उत्पन्न होने वाली ध्वनि ने ही बाँसुरी की कल्पना को जन्म दिया। महाकवि कालिदासकृत कुमारसंभवम् में भी इस प्रकार का उल्लेख है :

यः पूरयन्कीचकरन्ध्रभागान्दरीमुखोत्थेन समीरणेन।
उद्गास्यतामिच्छिति किन्नराणां
तानप्रदायित्वमिवोपगुन्तम्।।[3]

प्रोफेसर पी.साम्बामूर्ति ने इसी मत को स्वीकारा है।[4]

एक प्राचीनतम वाद्य होने पर भी बाँसुरी को शास्त्रीय संगीत में स्थान मिले अधिक समय नहीं बीता है। लोक संगीत में या एक संगत वाद्य के रूप में ही इसका प्रयोग होता था। जहाँ कर्नाटकी संगीत में बाँसुरी वादन का प्रचलन स्व. सरभ शास्त्री (1872-1904) ने किया, वहीं हिंदुस्तानी शास्त्रीय संगीत में बाँसुरी को प्रतिष्ठा स्व. पं. पन्नालाल घोष जी ने दिलायी। इन्होंने इस वाद्य के आकार एवं स्वरूप में प्रयोगात्मक परिवर्तन कर इसे गम्भीरता प्रदान की तथा भारतीय शास्त्रीय संगीत के अनुकूल बनाया। कालक्रम में देवेंद्र मुर्डेश्वर, भोलानाथ प्रसन्ना, हिमांशु बिस्वास, विजय राघव राव, गौर गोस्वामी तथा रघुनाथ सेठ जैसे वादकों ने इसे राग संगीत में उपयोग हेतु और अधिक समृद्ध बनाया। बाँसुरी में अद्भुत आकर्षण, ध्रुपद एवं तंत्र शैली की अभिव्यक्ति तथा विश्व भर में ख्याति, पं. हरिप्रसाद चौरसिया जी ने अपने अपूर्व वादन शैली के द्वारा दिलायी।

वतर्मान में ऐसा देखने को आया है कि अन्य वाद्यों की तुलना में लोग बाँसुरी की ओर अधिक आकृष्ट हो रहे हैं। इसे अधिक सराहना मिल रही है तथा इसको सीखने के इच्छुकों की संख्या में भी वृद्धि हो रही है। ऐसा होने का कारण सम्भवतः यह हो सकता है कि और वाद्यों की अपेक्षा इसे प्राप्त करना आसान है, क्योंकि बाँस हर प्रांत में उपलब्ध है। बाँस ना भी मिले तो लकड़ी की भी बाँसुरी बन सकती है जैसा कि पंजाब के स्यालकोट क्षेत्र में पाया जाता है।[5] यह एक हल्का व पूणर्तः प्राकृतिक वाद्य है और इसकी बनावट भी जटिल नहीं है। मूल्य की दृष्टि से सभी वर्ग के लोग इसे खरीद सकते हैं और अगर चाहें तो घर पर भी बना सकते हैं। वादन की दृष्टि से भी यह अधिकांश वाद्ययंत्रों की तुलना में, कम से कम शुरुआती चरणों में, कम कष्टसाध्य है।

रीसर्च स्कॉलर, (जे.आर.एफ), संगीत विभाग, रवीन्द्र भारती विश्वविद्यालय, कोलकाता।

बाँसुरी विविध विशिष्टताओं से परिपूर्ण वाद्य है। हर प्रकार के संगीत की अवतारणा, उसकी मूल प्रकृति में, इस पर कुशलता से की जा सकती है। सभी प्रकार के सांगीतिक अलंकार इस पर बजाए जा सकते हैं। चाहे ध्रुपद-धमार में प्रयोग होने वाली गमक और मींड हों, ठुमरी-दादरे में ली जाने वाली मुर्कियाँ, खटके और पुकार हों, या खयाल शैली में न्यासयुक्त स्वरों द्वारा भावाभिव्यक्ति हो, इन सबों की अवतारणा बाँसुरी पर सम्भव है। इस वाद्य के साथ एक खास बात यह भी है कि हर स्वरस्थान (स्केल अथवा पिच) के पृथक-पृथक सप्तकों (मंद्र, मध्य एवं तार) की पृथक-पृथक बाँसुरियाँ होती हैं। यह विलक्षण गुण अन्य वाद्यों में प्रायः नहीं है। यही कारण है कि चाहे संगीत गंभीर हो अथवा चंचल, बाँसुरी पर हर शैली बजती है। मेरे गुरु, डॉ. वेद प्रकाश (बाँसुरी वादक एवं संगीत प्रवक्ता, संगीत एवं नाट्य विभाग, ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय, दरभंगा) ने वृंदावन में चैतन्य प्रेम संस्थान द्वारा आयोजित अन्तर्राष्ट्रीय ध्रुपद समारोह में वर्ष 1985 व 1986 में, दरभंगा घराने का प्रतिनिधित्व करते हुए बाँसुरी पर सम्पूर्ण ध्रुपद शैली की प्रस्तुति दी थी। स्वरों पर न्यास जितना इस वाद्य पर कर सकते हैं, उतना बहुत कम ही वाद्यों पर किया जा सकता है। कतिपय आधुनिक बाँसुरी वादकों ने एक ऐसी फूँक की तकनीक को विकसित किया है जिससे एक ही फूँक में दो सप्तकों के एक ही स्वर, एक साथ ही बजते हैं। प्रख्यात बाँसुरी वादक श्री चेतन जोशी ने एक ऐसी फूत्कार विधि की खोज की है जिसके द्वारा बाँसुरी पर मंद्र सप्तक के षड्ज (खरज) तक पहुँचा जा सकता है। अमूमन बाँसुरी की मंद्रतम सीमा कठिनाई से मंद्र मध्यम तक की ही होती है। मध्यम और पंचम स्वर के बीच मींड के अभाव की जो समस्या थी उसका भी समाधान पहले तो स्व. रघुनाथ सेठ जी ने 'बैम्बू की' के द्वारा किया और यही निवारण प्रवीण गोडखिंडी जी ने ऊपरी अंगूठे के नीचे रंध्र बनाकर किया है। पाश्चात्य संगीत में प्रयुक्त होने वाले स्टेकेटो, विब्राटो, लिगेटो, ट्रेमोलो, फ्लटर इत्यादि अलंकरणों को भी बाँसुरी पर बखूबी बजाया जा सकता है। धीरे-धीरे बाँसुरी एक सर्वगुण सम्पन्न वाद्य के रूप में परिष्कृत होती जा रही है।

भारत में फिल्म संगीत सर्वाधिक लोकिप्रय है और फिल्मी संगीत में बाँसुरी का प्रयोग प्रारम्भ से ही खूब रहा है। ऐसे कई गीत हैं जिनकी रचना या तो बाँसुरी को ध्यान में रख कर की गयी है, या उन में बाँसुरी का ही मुख्य सहायक वाद्य के रूप में प्रयोग हुआ है, उदाहरणार्थ : मैं पिया तेरी तू माने या माने (बसंत बहार, 1956), छुप गया कोई रे (चंपाकली, 1957), बाँसुरी बनायी के (गीत, 1970), कान्हा बजाए बनसरी (नास्तिक, 1954), बजे बाँसुरी चले साँवरी (शीशम, 1952), कोई दूर बजाए बाँसुरी (हमसफर, 1953), कान्हा ना छेड़ो बाँसुरी (दो फूल, 1958), पिया बिना बासिया (अभिमान, 1973), सातों बार बोले बंसी (दिल पड़ोसी है, 1987), खाली हाथ शाम आयी है (इजाजत, 1987), चिंगारी कोई भड़के (अमर प्रेम, 1972), धीमे-धीमे गाऊँ (जुबेदाए 2001), शायद यही तो प्यार है (लकी : नो टाइम फॉर लव, 2005), आओगे जब तुम ओ साजना (जब वी मेट, 2007), इत्यादि। अनेक फिल्मों में बजी बाँसुरी की धुनों ने भी सबों को आकर्षित किया, जिनमें हीरो (1983), बॉम्बे (1995), साथिया (2002), किसना (2005), कृष (2006), थैंक यू (2011), एवं ओह मॉय गॉड! (2012) के नाम प्रमुख हैं। फिल्म 'गीत' (1970) का मुख्य किरदार भी एक बाँसुरी वादक ही है। और भी, 'सावन का महीना' (मिलन, 1967) गीत की बाँसुरी की धुन इतनी अधिक पसंद की गयी कि हरिप्रसाद चौरसिया जी को वर्ष 1967 में सेंट जेवियर्स कॉलेज, बॉम्बे, द्वारा इस धुन के लिए विशेष सम्मान से पुरस्कृत किया गया। '6 कॉल ऑफ द वैली' (1967) एल्बम में पं. शिव कुमार शर्मा (संतूर), पं हरिप्रसाद चौरसिया (बाँसुरी), और पं बृजभूषण काबरा (स्लाइड गिटार) के द्वारा एक अनूठे विषयात्मक संगीत (थीम म्यूजिक) को प्रस्तुत किया गया था। इस एल्बम को इतनी सराहना मिली कि इसे 'थाऊजेंड एंड वन एलबम्स यू मस्ट हीयर बिफोर यू डायष् पुस्तक में शामिल किया गया और उसके लिखित वर्णन में बाँसुरी वादन की विशेष प्रशंसा की गयी।[7] विश्व प्रसिद्ध

पाश्चात्य रॉक बैंड 'द बीटल्स' भी बाँसुरी के स्वरों पर मुग्ध हुई और इसी बैंड के मशहूर संगीतकार जॉर्ज हैरिसन ने 'दी इनर लाइट' (लेडी मडोना, 1968, साइड बी) जैसे गीतों में बाँसुरी का बहुत ही सुंदर उपयोग किया। जहाँ 20वीं शताब्दी में आकाशवाणी एवं चलचित्र के माध्यम से चौरसिया जी के अतिरिक्त अमेम्बाल दिनकर राव (डी.अमेल, 1909-1990) एवं सुमन्त राज (बाँसुरी वादक एवं संस्थापक अध्यक्ष, सिने म्यूजिशियन्स एसोसिएशन, मुंबई) ने बाँसुरी को आम लोगों तक पहुँचाया, वहीं वतर्मान में नवीन कुमार, अजय प्रसन्ना, पारस नाथ, पंकज नाथ, अश्विन श्रीनिवासन एवं निनाद मुलाओकर जैसे प्रतिभावान वादक इसे और अधिक ऊँचाइयों पर ले जा रहे हैं।

आज के समय में बाँसुरी को बनाने वालों की संख्या भी बढ़ रही है और यह शीघ्रता से एक नव उद्योग का रूप ले रहा है। सुंदर और सुरीली बाँसुरी ढूँढना अब एक दुष्कर कार्य नहीं रहा। वतर्मान में श्री हर्षवर्धन, आनंद धोत्रे, सुभाष ठाकुर, रमेश बाकले, मुकुन्द लेकुरवाले, अनुबोध, पार्थ सरकार, बुद्ध लामा, नीलेश पोटे, राघव बड्डी, श्री चार्ल्स प्रवीण, मो. सरफुद्दीन एवं कांति पटेल कुछ प्रमुख बाँसुरी बनाने वालों में से एक हैं जो उच्च कोटि की बाँसुरियों का निमार्ण व व्यापार बड़े स्तर पर कर रहे हैं। पूर्व काल में बाँसुरी को केवल अनुमान के आधार पर बनाया जाता था। स्वरों की शुद्धता, जवारी और मीठेपन की दृष्टि से वंशी निर्मिति की कोई ठोस गुणात्मक विधि नहीं थी। यद्यपि संगीत रत्नाकर जैसे लक्षण ग्रंथों में कई प्रकार के बाँसुरियों की विशेषताओं एवं मापों का उल्लेख है, किंतु उनका इस युग में ऐतहासिकता के सिवा कोई अधिक महत्त्व नहीं, क्योंकि उस युग के मापों की इकाइयाँ बहुत ही प्रारम्भिक थीं। माप के लिए उँगिलयों की लंबाई अथवा मोटाई या फलों के बीज के आकारों का ही सहारा लिया जाता था, यथा—

अर्धाङ्गुलान्तराणि स्यू रन्ध्राण्यन्यानि सप्त च।
तान्यष्टौ बदरीबीजसंकाशानि प्रचक्षते।।8

इसके विपरीत आज की बाँसुरी बनाने की विधि बहुत ही प्रामाणिक है। शिक्षित बाँसुरी निर्माता विभिन्न प्रकार की बाँसुरियों पर स्वरों की स्थापना भौतिक शास्त्र के सिद्धांत एवं गणित का आधार लेकर कर रहे हैं। 'पूनम फ्लूट्स' के अधिकारी, प्रसिद्ध बाँसुरी निर्माता, श्री सुभाष ठाकुर संगीत में एम.ए होने के साथ ही फिजिक्स में भी स्नातकोत्तर प्राप्त हैं। फलस्वरूप इनकी बाँसुरी की निर्माण विधि बहुत ही सूक्ष्म तथा सटीक है और इन्हें भारत में ही नहीं, वरन् पूरे विश्व भर में प्रसिद्धि मिल रही है। स्व. सी.एल. श्रीवास्तव जी ने भी अनेक प्रकार की बाँसुरियों के बनाने की प्रक्रिया को विस्तृत रूप से अपनी पुस्तक 'बाँसुरी शिक्षा' में उजागर किया है।[9]

मध्यम आकार, सहज बनावट और हल्केपन के कारण यह वाद्य अति सुवाह्य है और इसे कहीं ले जाने के लिए किसी अतिरिक्त प्रबंध की आवश्यकता नहीं है। कर्णप्रिय होने के साथ ही बाँसुरी आज हर प्रकार से तकनीक सम्पन्न भी है। इन्हीं गुणों की वजह से आज लोगों में इसके प्रति अभिरुचि बढ़ रही है, जो कि अत्यंत हर्षजनक है।

संदर्भ

1. नारदीय शिक्षा, प्रथम प्रपाठक, पंचमी कंडिका, श्री पीताम्बरपीठ संस्कृत परिषद, दतिया, पृ. 20
2. घोष मनमोहन, 1956, नाट्यशास्त्र, भाग-2, एसिएटिक सोसाइटी, कलकत्ता पृ. 1-2
3. पणशीकर, वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री, 1935, महाकवि श्रीकालिदासविरचितं कुमारसंभवम् निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, पृ. 7
4. साम्बामूर्ति, पी. 2012, द फ्लूट, द इंडीयन म्यूजिक पब्लिशिंग हाउस, चेन्नई, पृ. 37-38
5. श्रीवास्तव, सी. एल. 1983, बाँसुरी शिक्षा, संगीत कायार्लय, हाथरस, पृ. 29
6. सरण, सत्या, 2019, हरिप्रसाद चौरसिया : ब्रेथ ऑफ गोल्ड, पेंग्विन बुक्स, पृ. 96
7. डिमेरी, रॉबट, 2006, थाऊजेंड एंड वन एलबम्स यू मस्ट हीयर बिफोर यू डाय, यूनिवर्स पब्लिशिंग, न्यूयॉर्क, पृ. 126
8. तैलंग, मंगेश रामकृष्ण, 1897, द संगीत रत्नाकर : द लास्ट टू अध्यायाज़, आनंद आश्रम प्रेस, पूना, पृ. 527
9. श्रीवास्तव, सी.एल. 1983, बाँसुरी शिक्षा, संगीत कायार्लय, हाथरस, पृ. 28-45

"Desi Dhol" of lower Assam and Northern West Bengal

Dr.Santosh Kumar*
Mr. Dhananjay Ray**

Introductions

The 'Dhol' is a percussion instrument found since the civilization started. It is one of the ancient instruments of mankind. Since the time of Natyashastra, when tripushkar was the most commonly used percussion instrument. The Dholkinds of instruments havealso survived and have evidence of its important. The Dhol are of many kinds and many types and found every corner of the world. The shape and sizes depends upon the locality. The nomenclature of the Dhol also differs according to the use and type. Today in this modern era and in the world so many kinds of dhols are there-like Dholak, Khol, Mridang, Pakhwaj, Tabla, Bhangra Dhol, Naal, etc. But this particular (indigenous drum) Desi Dhol, it seemed so different from others, as per philosophical, physical and performing aspects. Itrelates with the society and play important role in the rituals. People in the region of lower Assam and the northern part of Bengal call it as Desi Dhol. It's a unique indigenous percussion instrument of India. As per socio-cultural overview, it has been playing a very important role since a long time in this society.

There are so many folk artists in this particular region and many of them turned aged but experienced. They can introduce this art form to the new generation of the society. Simply we can say that it maybecome a traditional cultural bridge between old and new artists. On the other side newinterested generation can reach them (old artist) to learn something as per their cultural, researchable and professional needs. This paper will help to create good relationship, friendship and a cultural brotherhood in between all folk artists.

The Desi Dhol

To make a Desi Dhol the things required are wood, rope, aniron, leather, ringalong with the supporting tools like hammer, bamboo etc.This instrument has originated in its current form from the lower part of Assam in North east India and the northern part of Bengal. About 500 hundred years ago. It is said this instrument was first time used in the ceremony offirstking Biswa Singhain Kochdynasty.

This instrument comes in the category of Drum and found in all part of the world. For example, in Nepal and

*(Assistant Professor, Sikkim University)
**(Freelance Artiste of DesiDhol)

Bhutan, it's called Yangji.In Nepal, little different structured Dhol called as Madal is used in folk music. It was originated in the Magar community of Nepal. It is the National instrument. It is used in the Nepali folk songs and rituals. It is again of two kinds in Eastern Madal and Western Madal, which differs in shape and size. In the Bangladesh and West Bengal, little modified Dhol called as Dhak is a traditional musical instrument. It is played by striking with bamboo sticks. In ancient days it was called Danka.

In earlier times, Desi Dhol was used to be played on the inauguration ceremony in different types of rituals; it was also used to be played for awareness of the people for the different government notices etc. Along with the Dhol also used in Bhuimali instrument.

Now a day's so many modern and western instruments are available in India. Most of these instruments are made up of Synthetic membrane instead of leather. In the practice of the new trend, the originality is going down day by day. And, the local instrument makers are not interested to kill their indigenous traditional method which they learnt from their past generations. Besides they have no idea about the utility of new trends and this help to prevent to lose their own tradition. If new trend will continue, in the coming days it may be harmful for the tradition and the identity of the indigenous art form.

Thomas (2007) "Music and musical instrument of the Garo tribe of North-East India", in his book, he has mentioned a sub-classification of musical instrument which are Idiophones, Aero phones, Chordophones and Membranophones. And out of them, Membranophones have skin or membranes stretched over a frame (as in the tambourine) or over the ends of wooden or metal cylinders as in the three major type of drums. The Garo have a wide range of drums ranging from 4 feet 3 inches in length to the tiniest which is only about 5 inches in length. They prefer Gambil wood for the frame of the drum. The Garo have different styles of playing the drum depending on the area they come from.

Sharma (2008) in his book 'Music culture of North-East India', carried out a study on musical cultures of North-East India. In this book, he discussed about Avanaddha Vadya, Ghana Vadya, Sushira Vadya, Tata Vadya. In avanaddha vadya, instruments are covered with a hide or skin for example Dhol, Nagara, Bheri, Madal, Damru, Khol. Dhol is a common drum used in Bihu song and dance. It is played by striking one side of the Dhol with one bamboo stick and by striking the other side with the palm. Drums are two headed and they are hanged in the neck with cloth and placed in the lap.

Ghosh, (1997), in his book 'Sangeeter Itibriti', has described the membranophones and its measurements and types. The different types of membranophone instruments are Dhol, Khol, Dhak, Madol, Domfo, Korka. Theseare playedusing pressure with finger. And wood is being cover in this instrument.

Dutta (2014) carried out a study on Sangeeti kee and in this study, he described the topic on Banglar Lokobadya. In this topic, some ancient instruments like Muraj, Potoho, Mridanga Chokka, Damru, Modul, are mentioned. Now a days, as per the new traditions, these types of ancient instruments are not used in West Bengal.

Barman (2018) carried out a study on Bhawaiya Saralipi" in his book "Bhawaiya Saralipi". He described Bhawaiya folk songs and explained the notation along with different Taalas of DesiDhol. From the book I found taalas such as Hasti, Jhatka, Chaddyasoyari, Saitol, Baromaisya, Chabissa from.

Problems affecting Utility of Dhol

- The collection of raw materials - now, the government has restricted the cutting of trees. That's why, due to there striction of thegovern ment,people are being discouraged to grow new trees. This is the main problem because to make this instrument local trees like Jackfruit, Mango, Gamari are necessary.
- Dholmaker Gokul Raysays that," the availability of the local rawmaterials is vanishing day by day from our society. And that's why prices of these are goinghigh."
- Most of the times, general people and the instrument players are not able to buy an expensive Dhol.
- Local History says that most of artists in this region are those who belong to families living below poverty level. They are not able to bear this. And gradually they lose theirinterest.
- There is no theoretical history in Desi Dhol in this subject in this region. Somewhat of a little oral history isthere.
- The making process in some families is going from generations wise but new comers are not interested to take this to keep this practice like their previousgenre

After the discussion and interview with the artists, it is found that the Desi Dhol is having specific bol system. The sound that can be nomenclature as Gurung Gurung , furung furung etc. the other sounds resembling like the chanting od hare Krishna hare Krishna , hariharibolare also been produced. Theseall nomenclatures comes from folk "boli" (talk), which are expressed by the honorable artist of Desi dhol. Which is used in learning, performing and teaching to their student?

If we represent this as per Bhatk hande notation process it will be like

1. 16th matra, Bivag 4, chondo 4/4, tali 3, khali1,
   | hare Krishna hare Krishna | Krishna Krishna hare hare
   | hare ramahare Rama | Rama Ramaharehare |
   Expressed by Sri Gabinda Barman, barokodali, coochbehar.
2. 16th matra
   | ghughunaghuutghuna| ghughunaghuutghuna Na
   | takhutkhutkhutta | takhutkhutkhut ta |
   Expressed by Nitta Kinnar, Bhetaguri

Desi Dhol

Conclusion:

We can say that, in the tradition of folk music and culture the percussion

instruments have played an important role time to time. This is a pity that many of the folk instruments have been disappeared because of negligence. But, there are some evidences of evolution in the form of instruments which moulds their shape and quality according to the changing scenarios. The DesiDhol has its own significance in the folk culture of lower Assam and North part of West Bengal. This is the time when we should put effort to do some research based works, so that the traditional instruments like DesiDhol can survive enduring the culture of North Bengal. Some peoples are already working for it and it is a good sign.

References:

1. Thomas Iris Watre, Music and musical instrument of the Garo tribe of north-east India, Akansha publishing house, New Delhi 02, ISBN 81-8370-079-9, page 60
2. Sharma, Dr Prabal 2008, Music Culture of North East India, Raj publication New Delhi 02 ISBN 81-86208-55-0, Page 197.
3. Ghosh, Sambhunath, 1997, Sangeeter Itibrita, Adinath Brothers publishers, Kolkata 73, Page 35.
4. Dutta, Dr. Krishnendu 2014, Sangeetikee Monfokira publishers, Kolkata 99, ISBN 978-93-80542-66-9, Page 46.
5. Barman, Jayanta Kumar 2018, Bhawaiya Saralipi, Bangiya Sahitya Samsad, Kol 09, ISBN 978-93-86508-56-0, page 165.
6. Mishra, Lalmani, Bhartiya Sangeet Vadya, Bhartiya Jnanpeeth, New Delhi, 4th edition, 2011
7. Deva, B.C., Musical Instruments, National Book Trust, NewDelhi, 1977

The Unique Style of Kirana Gharana Singing

Manish Kumar

ABSTRACT: India has a great cultural influence and land of tradition. There are 64 traditional arts (Kala) are considered in our country. Geet Vidya or Geet Kala is considered as one of the major art forms among all. Our Indian Classical Music is a rich heritage of India and it is also a part of Geet Kala. The world of Hindustani Classical Music is boundless, infinite, unparallel and inspiring form of art. The tradition of the Gharana system has been continuing since ancient times i.e. from the Vedic times. The word 'Gharana' literary means a family or in musicological terms it is also termed as a 'school of music'. A Gharana can be so called if it has at least three generation of established guru-shishya tradition. The Gharana gets its name from the name of the place to which the founder musicians belonged. The Gharana period is a musical tradition that has been going on since the medieval period. Nowadays, due to the availability of educational facilities, the importance of household has decreased. But the pillars of the Gharana tradition is still strong as it was before. If we ask any renowned artist for his or her singing style, we will find that he or she belongs to any particular Gharana. As a result, to become a great or renowned artist, you have to be educated in one of the Gharnas by staying in Guru-Shishya tradition. This is a big contribution of our Gharana Tradition. Some of the famous Gharana for the Khayal Singing are: Agra, Kirana, Gwalior, Agra, Patiala, Bhendi Bazar, Jaipur, Rampur-Sahaswas Gharana etc.

KEYWORDS: Kirana Gharana, Khayal Singing, Ragas, Singing Style, Indian Classical Music, Guru-Shishya tradition

INTRODUCTION:

Kirana Gharana is one of the most famous Gharana in our Indian Classical Music. Kirana is a small city in Shamli district in Uttar Pradesh. Khayal singing is the prominent style of this Gharana. This history of this Gharana is more than 150 years old. Basically, this Gharana was founded by Ustad Abdul Karim Khan and Ustad Abdul Waheed Khan in the early 1870s.

The singing of Kirana had always attracted me amazed me through its exciting singing elements whenever I listened. When I was very young, I used to listen Pt. Bhimsen Joshi ji even I did not know about Ragadari music. I have

Research Scholar, Music, Department of Performing Arts, Central University of Jharkhand, Cheri-Manatu, Ranchi.

found some profound happiness and got interest to learn classical music. Then I started to search Pt. Bhimsen Joshi Ji's style and founded that he belonged to a Gharana named 'Kirana Gharana'. Out of this interest I started to learn music of Kirana Gharana under Guru-Shishya tradition.

Ustad Bande Ali Khan, the great master of the Been had taught music to Abdul Karim Khan. Ustad Bande Ali Khan was taught by his father Ustad Shadique Ali Khan. The main gist of Abdul Karim Khan had beautiful musical elements of Ustad Bande Ali Khan. Ustad Bande Ali Khan had got the post of an honorable teacher, whereas Ustad Abdul Karim Khan is known as this Gharana's main inventor. Some of the disciples of Ustad Bande Ali Khan are Murad Khan Sahab Beenkar, Bhaiya Ganpat Rao (Harmonium), Jafar Khan (grandfather of Halim Jafar Khan), Rehmat Khan and many mores. The legend maestro Bhaskar Buva Bakhle was also initially taught by Ustad Bande Ali Khan Sahab. Ustad Abdul Karim Khan formed his own singing style which soon came into limelight. His mesmerizing music always brought tears in the entire audience's eyes. His melodious and high-pitched voice almost merged with the drone of his Tanpura. He always used Jora Tanpura in his concerts and sometimes for his own practice also. It is said that Ustad Abdul Karim Khan had two Tanpuras (a pair of string instrument for practice and accompany) or can be called Jora Tanpura and he used to hire two persons for every eight hours practice in a day. So, without any doubt we can say that Kirana has turned out to be the most prolific and popular among all the Gharanas in the 20th century.

PROMINENT EXPONENTS:

Indian Classical Music is known for its varied and sophisticated structure as for its superfluity of legendary artistes and their lineages or Gharana, each of which have a unique identity. Some of the renowned artists of the Kirana Gharana are - Ustad Abdul Karim Khan (1872-1937), Ustad Abdul Waheed Khan (1885-1949), Pt. Sawai Gandharwa (1886-1952), Pt. Vishwanathbuwa Jadhav(1885-1964), Pt. Sureshbabu Mane (1902-1953), Hirabai Barodkar (1905-1989), Roshan Ara Begum (1917-1982), Saraswati Rane (1913-2006), Gangubai Hangal (1913-2009), Firoz Dastur (1919-2008), Pt. Bhimsen Joshi (1922-2011), Pt. Basvaraj Rajguru (1917-1991), Pt. Madhav Gudi (1941-2011), Manik Verma (1920-1996), Vidushi Prabha Atre (1932 onwards), Pt. Mani Prasad (born on 1930-years active), Pt. Kaivalya Kumar Gaurav, Jayateerth Mevundi (from 1972 onwards) and many more. Their contributions work as a pillar to the coming generations of the Kirana Gharana as well as in our Indian Classical Music.

THE SINGING STYLE: Every Gharana has its own unique methods or techniques for the learners and performers. The ancestors of Ustad Abdul Karim Khan and Ustad Abdul Waheed Khan were mainly Sarangi and Been Players. In the beginning these teachers were either Sarangi or Been players but they also taught vocal music to their disciples. Hence, their singing style bears a strong impact from these instruments and it gives an impact of smooth voice production, tunefulness and sweetness of tone as opposed to Dhrupad Gharanas which used broad and heavy Meend and Gamakas. So, it can be said that the Kirana style demonstrates the influence

of both the Rudra Veena and Sarangi Baaz.

'**Swar'** or the individual note is the main focus or centre of attention of this Gharana. There is a famous Shlogan said in Kirana Gharana in Hindi i.e. 'TAAL GAYA TO BAAL GAYA AUR SUR GAYA TO SIR HI GAYA'. In the Kirana singing style, every single note of the Raga is considered as an important point in that particular scale. We do expansion (in Hindi it is known as **BADHAT**) of every single note with tunefulness respectively. Badhat is the art of expatiating and developing Raga note-by-note in an ascending and progressive order in extremely slow tempo [1]. This gives their Alaaps a full of emotion quality. Some of the Ragas in which the Kharaj or the lower Sa is prominent or dominant are very suitable for this sonorous Gayaki [2]. Hence, Darbari Kanhada, Todi, Yaman, Multani etc. are some of the Ragas that are sung broadly in this Gharana.

Another unique feature of this Gharana is Weaving pattern of **Sargam Taans**. This was first introduced by Ustad Abdul Karim Khan under influence from the Carnatic Classical Style. Ustad Abdul Karim Khan was the singer of the court of Mysore. Hence, as a result a Carnatic touch can be found in the application of notes by many Kirana singers. Using the words of the Bandish (Bol-Alaap) to create melodiousness and tunefulness instead of Aakar singing is another feature of this Gharana singing. To observe the sweetness, tunefulness and melodiousness, Meend and some instinct features of Kirana singing style we can listen the recording of Ustad Abdul Karim Khan which is available on you tube, Raga Shudh Kalyan, Bandish- Bajo Ri Bajo, Bandish compostion of Sadarang Ji [3]. **Ati Vilambit Laya** (very slow tempo) in Khayal Singing was first introduced by Ustad Abdul Waheed Khan in late 19th century. His music was authoritative and he is known to have been capable of performing a single Raga for four to five hours at a time. His Ati-Vilambit, sung in Raga Darbari Kanhada (recording available on you tube) is one of the great examples of his innovation [4]. A classical musician can understand the Chaindari and deep feelings of Ati-Vilambit Laya. He was conferred the title of 'SIRTAAJ-E-MAUSIKI': the crown of all musicians [5]. Ustad Amir Khan also very highly inspired by the Gayaki of Ustad Abdul Waheed Khan Saheb, specially his Vilambit Laya. Hence, in Ustad Amir Khan's Gayaki, the clear shadow of Ustad Abdul Waheed Khan's Gayaki is seen. Today, we know that the Merukhand style was introduced by Ustad Amir Khan but he had got inspired by Ustad Abdul Waheed Khan ji so, this style was first introduced by Ustad Abdul Waheed Khan ji. Earlier, singers would mainly sing Drut or medium-paced items during a recital. This is why this Gharana is also known for its

CHAINDAR GAYAKI.

The melodiousness of notes with CHAINDARI (peaceful) have been a special feature of this family [6]. Originally being a house of Beenkars, the work of attachment, elasticity and Meend is found more in this Gharana. The soft accent and slow edge similar to the pure clear tone style are other features of this Gharana. In this Gharana we found a lack of Bol-Upaj and Layakari as these features are more used in Agra Singing Style. The musicians of this Gharana have

been also proficient in the Alap- Pradhan Gayaki as well as Thumri Gayaki [7].

In the singing of Kirana Gharana, there is a greater emphasis on vocalization and there is a kind of indifference to the miracle of Laya and Taal. The singer takes two to four words of the Bandish and expands those words with the discipline of Kirana Gharana. Bada Khayal or Vilambit in very slow tempo, the long gestures of Alap, Meend, soft Khatka, the lingering syllables and the emotionally produced by the expanses attracts the listeners. This Gharana has its own special form of vocalization. Like other houses, the rhythm is not predominant here. Kirana Gayaki evokes the aesthetic configurations of Ragas in the most stirring manner. People loved the way to sing with tunefulness singing, sweet intonation and most importantly Bhaav (feelings). One of the renowned artists of Kirana Gharana, Jayateerth Mevundi says in his interview that "In Kirana Gharana, most of the Swaras (notes) have an innate Bhaav (feelings) associated with each one of them. Most of the compositions are soaked in the Bhakti Rasa and dedicated to the supreme lord" [8].

The Kirana Singing is a coalescence of various ang (parts) of the Sarangi Baaz (style of playing), the Been Ang and the Dhrupad Ang (originally form of Indian Classical Music). Vilambit or Bada Khayal is generally sung in Taal Ektaal (48 beats) and Drut or Chhota Khayal in Taal Teen Taal and Drut Ektaal. In Drut laya, well-known exponents often sing Sthai and Antara of a composition fleetingly and after that Bol-Taans, some Sargam Taans and at last Akaar Taan are sung by them. The text of the Bandishes is used very little. Dr. R.C. Mehta described "Hardly any improvisation from the lyrics, Bol-Upaj and Layakari is done in this Gharana" [9]. It is said in the aspect of the Taan singing that this Gharana is also known for its Taan singing pattern. We can easily find out the musicians of this Gharana by listening to their Taans. Special or unique types of Taans used in this Gharana like Badhat ki Taan, Danedaar Taan, Firat ki Taan and Koot ki Taan. An example of Badhat ki Taan in Raga Yaman is NiReReRe, ReGaGaGa, GaMaMaMa, MaDhaDha Dha, DhaNiNiNi, NiSaSaSa. Usually, this Taan is sung in Akaar forms. Another example of Kirana Singing Taans is Koot Taan i.e. GaMa, GaPa, MaPa, GaMa, GaDha, PaDha, MaPa, GaMa, NiNi, DhaPa, MaPa, GaMa, PaMa, GaRe, GaGa, ReSa in Raga Yaman. These two are prolific styles in this Gharana. Pt. Bhimsen Joshi, a great maestro and Bharat Ratna sang mostly these two types of Taans in his concert and people loved the way that he sang. He mesmerized the entire audiences with full of devotion and attraction to his singing. Pandit Bhimsen Joshi is known as the most prolific and famous musicians of this Gharana.

RAGAS: The Ragas which are generally sung by the musicians of the Kirana Gharana are Todi, Lalit, Multani, Patdeep, Puriya, Marwa, Shudha Kalyan, Darbari Kanhada, Komal Rishabh Asavari and Yaman etc. These Ragas have gained new aspects under the Kirana Singing. It is noted by the Marathi Thespian 'Pula Deshpande' that the musicians of Kirana Gharana generally performed or are fond of the Komal Rishabh or Flat Rishabh of the classical music scale [10]. The Gharana also has its vast repertoire of rarely heard Ragas and exclusive Bandishes. Whereas a popular misconception about the Kirana Gharana

is that its performers restricts themselves to the rendition of a few traditional Ragas only and uncommon Ragas are not often heard but the truth is that the musicians of the Kirana Gharana have established their indelible mark on certain Ragas so much so that both the audience and the performer desire the Ragas time and again. It concentrates more in "Raga Vistar" and various patterns of note combinations in taans and sargam. Shrinivas who is Pt. Bhimsen Joshi's son says that "Note-by-note unfolding od Raga is what defines Kirana Gharana the best" [11]. Ustad Abdul Waheed Khan showed how one Raga could be sung over one and a half hours at a stretch – complete with alap, bandish, swar-taan and bol-taan, "says singer Ustad Amjad Ali Khan. Many Ragas were found or composed by the musicians of this Gharana. The renowned artist Pt. Mani Prasad has composed Raag Bhupeshwari, Raga Vihang etc. Out of which Raga Bhupeshwari has become very famous in Indian Classical Music. Pt. Bhimsen Joshi has created Raga Kalashree which is a combination of two Ragas i.e. Raga Rageshri and Raga Kalawati. Pandit ji named his house as Kalashree after made this Raga. Raga Kalashree has also become famous in Indian Classical Music.

CONCLUSION

This Gharana has given great maestros. Some of the names are – Pt. Bhimsen Joshi (Bharat Ratna), Ustad Abdul Karim Khan (founder of Kirana Gharana), Vidushi Prabha Atre and many more. Pt. Bhimsen Joshi Ji started to organize a musical festival known as 'Sawai Gandharva Mahotsava'. This festival was initiated in the year 1953 after the death of his Guru Pt. Sawai Gandharva. This festival is held in Pune every year in the first two weeks in December over three days. Almost all the renowned artists of different Gharanas are invited here for their performance. Thousands of people come over here to see and enjoy the performance and that's how its glory is waving.

In the present generation this Gharana is being carried forward by Dr.Prabha Atre, Pt. Venkatesh Kumar, Jayateerth Mevundi, Pt. Kaivalya Kumar Gaurav, Ustad Mashkoor Ali Khan, Pt. Mani Prasad and Pt. Harish Tiwari and others. In this way the tradition of Kirana Gharana is on the move.

REFERENCES:

1. H. Hirlekar, "Nuances of Hindustani Classical Music", Unicorn books, 2014. [Ref. 1,2 and 5].
2. https://youtu.be/1aoMeRvGasw [Ref. 3].
3. http://youtu.be/O1vKUfzSGIA [Ref. 4].
4. S. Mishra, "Hindustani Shatriye Sangeet Ki Gharana-Parampara", Ministry of I and B publication, New Delhi, First Edition, 2002. [Ref. 6 and 7].
5. "Jayateerth Mevundi on the evolution of the Kirana Gharana, and the greats who graced its music", first post, 03 Aug. 2018, Retrieved 11 Sep. 2020. [Ref.8].
6. R.C. Mehta, "Indian Classical Music and Gharana Tradition", Readworthy Publication, 2008 [Hindi]. [Ref. 9].
7. "Torch-bearers of Kirana Gharana, and their followers", Times of India, 26 Jan. 2011, Retrieved 11 Sep. 2020. [Ref. 10 and 11].

Padmabhushan Pt. Rajan Mishra his bond with Kashi (1951-2021)

Dr. Archna Adityo Mhaskar

Padmabhushan Pt. Rajan Mishra & his younger brother Pt. Sajan Mishra were acclaimed artistes of the Banaras gharana of Hindustani Classical Music although they are known for their khayal singing their repertoire included bhajan, tappa, tarana & thumari. They were born in "Kashi" their ancestral home is at "kabir chauraha" it's known for having produced many well known dancers & musicians. The banaras gharana is not associated with one family but the entire city.

Banaras gharana is the only musical lineare in India that includes all form of Hindustani classical music such as vocal, instrumental & dance. It has been aside of Internationally claimed artist such as Pt. Anokhelal Mishra, Pt. Kishan Maharaj, Pt. Samta Prasad, Pt. Hanuman Mishra, Girija Devi Pandit Kumar Bose to name and few.

Pt. Rajan & Sajan Mishra ji were the born living proctitioner of Hindustani Classical Music. They non only inherited and carried forward the 300 year old rich musical tradition of their family but also took if to greater heiguts. The brothers became synonymous with the vocal tradition of Banaras gharana which had been wrongly associated with light classical singing such as thumari, dadra, kajari, chaiti.

They introduced the word to the gharana's rich tradition of khyal gayaki. A challenge they met successfully & in the process raised the bar of classical singing in India.

Born in 1951 in a family of musicians, Pt. Rajan Mishra's training began in his chaildhood he became the gandabandhan shagird of his grandfather Gayanaeharya Pt Bade Ramdas ji Mishra, though he learnt music under the guidance his father Pt. Hanuman Mishra ji & his uncle Pt. Gopal Mishra ji under the guru shishya prampara. The ambience & aura of Banaras Ghats & templies of Banaras built the sensibilities of Pt. Rajan Mishra ji. He grew up listening to the music of accomplished artistes. The ghats of Banaras where signs of life & death can be seen simultaneously prepaid the grand for him to retteu on life. The proremity to the kabir math might have contributed in giving him an electric perspecnus on relion on & spinrithaling as he understood the difference between two dislinetivehy he always believed in exploring god within his body. He approached music with philosophy cal mind. He names played to the gallery. He believed in singing for his inner self for a divine force residing within him. He would often say if you can enjoy your

Ph.D (Musicology B.H.U), M. Mus (Gold Medalist), B. Pharmacy (Poona University)

music, your audience will automatically enjoy if music for him was a medium to realize himself. In his journey to explore himself though music he composed many bandishes. It is a praence in the bharti tradition for poer to at tribute their peory to their guru.

He at tributed all his compossions, his creations to his guru. A follower of osho & satguru jagrit singh ji he had a big photoseaph of Osho outside his music learn with a caption "Mere bhitar tum gaate ho" his philosophical view of music is born Summed up in tradition Bandish of Sudh Bhairavi " Naad ko na Bhed payega" He believed in navigasing the difference between davit and advait. He made a life long inner journey.